❋ श्रीगदाधरगौराङ्गौ जयतः ❋

दशश्लोकीभाष्यम्

श्रीमद्राधाकृष्णदासगोस्वामिप्रणीतम्



श्रीहरिदासशास्त्री

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

* श्रीश्रीगदाधरगौराङ्गौ जयतः *

प्रकाशक, मुद्रक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदासनिवास,

कालीदह, वृन्दावन, जिला—मथुरा। उत्तर प्रदेश

प्रकाशनतिथि—

श्रीश्रीमच्चैतन्यदेव की श्रीवृन्दावनागमनतिथि

कार्त्तिकी पूर्णिमा।

३०।११।८२

श्रीगौराङ्गाब्द ४९६

प्रथमसंस्करणम्

प्रकाशन सहयोग—

श्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

दशश्लोकीभाष्यम्

श्रीमद्राधाकृष्णदासगोस्वामिप्रणीतम् ।



श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन
न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, सांख्य, मीमांसा
वेदान्त, तर्क, तर्क, तर्क, वैष्णवदर्शनतीर्थ, विद्यारत्नाद्युपाध्यलंकृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितम् ।



सद्ग्रन्थ प्रकाशक :–
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस
श्रीहरिदास निवास, कालीदह
वृन्दावन, मथुरा ।

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

विज्ञप्तिः

मन्त्रमयी उपासना वर्णन प्रधान 'साधनदीपिका' नामक ग्रन्थ रचयिता श्रीराधाकृष्णदास गोस्वामी, प्रस्तुत 'दशश्लोकीभाष्य' नामक स्वारसिकी उपासना वर्णनात्मक ग्रन्थ प्रणेता हैं।

श्रीगौरप्रेमलक्ष्मी,—श्रीश्रीगदाधर पण्डितगोस्वामिपाद के शिष्य श्रीअनन्त आचार्य्य, उनका शिष्य, श्रीवृन्दावनस्थ ठाकुर श्रीगोविन्ददेव का सेवाधिकारी श्रीहरिदास गोस्वामी, उनका शिष्य ही प्रस्तुत ग्रन्थ प्रणेता हैं।

स्वारसिकी लीलोपासना का प्रमुख ग्रन्थ, श्रीगोविन्दलीलामृत के मूलस्वरूप दशश्लोक का ही टीकाविशेष यह 'दशश्लोकीभाष्य' है। उक्त श्लोक समूह निम्नोक्त रूप हैं—

श्रीराधाप्राणबन्धोश्चरणकमलयोः केशशेषाद्यगम्या
या साध्या प्रेमसेवा व्रजचरित परं गाढ़लौल्यैकलभ्या।
सा स्यात् प्राप्ता यया तां प्रथयितुमधुना मानसीमस्यसेवां
भाव्यां रागाध्वपान्थै र्व्रजमनुचरितं नैत्यिकं तस्य नौमि ।।१

कुञ्जाद् गोष्ठं निशान्ते प्रविशतिकुरुते दोहनान्नाशनाद्यां
प्रातः सायञ्च लीलां विहरति सखिभिः सङ्गवे चारयन् गाः।
मध्याह्ने चाथ नक्तं विलसति विपिने राधयाद्धापराह्ने
गोष्ठं याति प्रदोषे रमयति सुहृदो यः स कृष्णोऽवतान्नः ।।२

रात्र्यन्ते त्रस्तवृन्देरित-बहुविरवैर्बोधितौ कीरसारी-
पद्यै र्हृद्यैरहृद्यैरपि सुखशयनादुत्थितौ तौ सखीभिः।

दृष्टौ हृष्टौ तदात्वोदितरतिललितौ कक्खटी-गीः सशङ्कौ
राधाकृष्णौ सतृष्णावपि निजनिजधाम्नयाप्ततल्पौ स्मरामि ॥

राधां स्नात-विभूषितां व्रजपयाहूतां सखिभिः प्रगे
तद्गेहे विहितान्नपाकरचनां कृष्णावशेषाशनाम् ।
कृष्णं बुद्धमवाप्तधेनुसदनं निर्व्यूढ़-गोदोहनं
सुस्नातं कृतभोजनं सहचरैस्ताञ्चाथ तञ्चाश्रये ॥४॥

पूर्वाह्ने धेनुमित्रैर्विपिनमनुसृतं गोष्ठलोकानुयातं
कृष्णं राधाप्तिलोलं तदभिसृतिकृते प्राप्ततत्कुण्डतीरम् ।
राधाञ्चालोक्य कृष्णं कृतगृहगमनामार्य्ययार्कार्चनायै
दिष्टां कृष्णप्रवृत्त्यै प्रहितनिजसखीवर्त्मनेत्रां स्मरामि ॥५॥

मध्याह्नेऽन्योन्यसङ्गोदित-विविधविकारादिभूषा-प्रमुग्धौ
वाम्योत्कण्ठातिलोलौ स्मरमखललिताद्यालिनर्माप्तशातौ ।
दोलारण्याम्बुवंशीहृतिरतिमधुपानार्कपूजादिलीलौ
राधाकृष्णौ सतृष्णौ परिजन-घटया सेव्यमानौ स्मरामि ॥६

श्रीराधां प्राप्तगेहां निजरमणकृते क्लृप्तनानोपहारां
सुश्नातां रम्यवेशां प्रियमुखकमलालोकपूर्णप्रमोदाम् ।
श्रीकृष्णञ्चापराह्ने व्रजमनुचलितं धेनुवृन्दैर्वयस्यैः
श्रीराधालोकतृप्तं पितृमुखमिलितं मातृमृष्टं स्मरामि ॥७॥

सायं राधा ससख्या निजरमणकृते प्रेषितानेक भोज्यां
सख्यानीतेश-शेषाशनमुदितहृदं ताञ्च तञ्च व्रजेन्दुम् ।
सुस्नातं रम्यवेशं गृहमनु जननीलालितं प्राप्तगोष्ठं
निर्व्यूढ़ोस्रालिदोहं स्वगृहमनु पुनर्भुक्तवन्तं स्मरामि ॥८॥

राधां सालीगणान्तामसितसितनिशायोग्यवेशां प्रदोषे
दूत्या वृन्दोपदेशादभिसृत-यमुनातीरकल्पागकुञ्जाम् ।
कृष्णं गोपैः सभायां विहितगुणिकलालोकनं स्निग्धमात्रा
यत्नादानीय संशायितमथ निभृतं प्राप्तकुञ्जं स्मरामि ॥९

तावुत्कौ लब्धसङ्गौ बहुपरिचरणै र्वृन्दया राध्यमानौ
प्रेष्ठालीभि र्लसन्तौ विपिन-विहरणै र्गानरासादिलास्यैः ।
नानालीलानितान्तौ प्रणयिसहचरीवृन्द-संसेव्यमानौ
राधाकृष्णौ निशायां सुकुसुमशयने प्राप्तनिद्रौ स्मरामि ॥१०

श्रीगोविन्दलीलामृत ग्रन्थ प्रणेता श्रीमत् कृष्णदास कविराज महाशय कृत गोविन्दलीलामृत २३।९४ श्लोक—

"श्रीरूपदर्शित दिशा लिखिताष्टकाल्या
श्रीराधिकेशकृतकेलिततिर्मयेयम् ।
सेवाऽस्य योग्यवपुषाऽनिशमत्रसाध्या
रागाध्वसाधकजनैर्मनसा विधेया ॥"

के अनुसार उक्त दशश्लोकी—श्रीरूप कृत ही है, ऐसी मान्यता है । किन्तु भाष्यकार के मत में उक्त दशश्लोक श्रीकृष्णदास कविराज कृत ही हैं—कथन इस प्रकार है—"श्रीरूपगोस्वामिनोऽपि (रसामृते पूर्व २।१५१)—

"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि,
तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ।"

इत्यादिना तामेव भक्तिं मुख्यतया निरूप्य स्तोत्रादि द्वारेण बहुधा प्रपञ्चितवन्तोऽपि रहस्यातिरहस्यायाः स्वगणातिरिक्तेभ्यो गोपनाय नैकत्र कुत्रापि क्रमेण तदनुष्ठान प्रकटं निरूपयामासुः । यदा च स्वीयानामाग्रहेण तन्निरूपणे प्रवृत्तास्तदैव तेषां भगवत्प्राप्तिसमय उपस्थितो बभूव । तञ्च समयं स्वयमेव ज्ञात्वा परमाप्ततमेभ्यः

श्रीकृष्णदास कविराज महानुभावेभ्यः साङ्गमेव तत्प्रकारमुपदिश्य त्वयैवैतत् प्रकाशनीयमिति तान् प्रत्याज्ञापितवन्तः। ते च तदाज्ञा-पराधीनाः स्वीयजनप्रार्थनावशंगताश्च सन्तस्तदेक प्रतिपादक भगवन्नैत्यिकचरितवर्णनात्मक श्रीगोविन्दलीलामृताभिधमहाकाव्य रचनाव्याजेन यथोपदेशमेव तत्प्रकारं निरूपयाम्बभूवुः।

पुनश्च तामेव भक्तिमतिलघुनोपायेन बालान् ग्राहयितुं तदेव भगवन्नैत्यिकं चरितं सिद्धान्तेन सूत्रयन्तो दशश्लोकीं प्रणीतवन्तः। तत्रैकेन प्रथमतः सर्वमाथुर वैष्णवसम्प्रदायसिद्धान्तरहस्य निरूपणं, द्वितीयेन — पूर्वश्लोकावशिष्ट-सिद्धान्तकथनपूर्वकमष्टकालिक्या नैत्यिक-लीलायाः संक्षेपेण कथनं, शेषैरष्टभिः श्लोकैस्तस्या एव लीलायाः क्रमेण पृथक् पृथक् वर्णनेति विवेकः।"

ग्रन्थकार की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि—श्रीरूपगोस्वामी पादके आदेश से उक्त दशश्लोक की रचना श्रीमत् कृष्णदास कविराज महोदय के द्वारा ही हुई है।

ग्रन्थकार,—प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोकद्वय की विस्तृत आलोचना करके अवशिष्ट श्लोक समूह का अन्वय क्रम से आकरग्रन्थ के सहित समन्वय रक्षा के निमित्त उक्त आकरग्रन्थ से श्लोकावलि का उट्टङ्कन किए हैं। प्रथम श्लोकद्वय में ही आपने यावतीय तथ्य का आलोचन एवं आस्वादन अशेष विशेष से किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सङ्कलन हेतु मूल उपादान — भक्तिरसामृत, उज्ज्वलनीलमणि एवं लघुभागवतामृत प्रभृति ग्रन्थसे गृहीत हुआ है।

प्रथम श्लोक का वर्णयितव्य विषय—

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की भगवत्ता निश्चय पूर्वक तदीय उपदेश सारसंग्रह द्वारा ही प्रस्तुत ग्रन्थरचित होनेसे इसमें जानना होगा कि—श्रीमन् महाप्रभु का ही स्वारस्य है। ग्रन्थ रचना का कारण,— अनुबन्ध चतुष्टय निरूपण, चतुर्वर्ग तिरस्कारि प्रेमसेवा का

साध्य शिरोमणित्व निर्धारण, श्रीराधाप्राणबन्धु के श्रीचरणकमल की प्रेमसेवा हो साध्यचूड़ामणि क्यों ? उक्त विषय की विस्तृत आलोचना, आस्वादन एवं अपूर्व रीति से विश्लेषण, प्रसङ्गतः,—श्रीकृष्ण का स्वयं भगवत्त्व विचार, पूर्णादि स्वरूपत्रय का विचार, निखिल गुणावलि का प्रकाशन इत्यादि ।

व्रज में स्वाभाविक प्रकाश से भी दास्यरसैक भक्तगण के सम्बन्ध में प्रकाशातिशय्य का विशेष विचार, क्रमशः सख्यरस, वात्सल्यरस एवं मधुररस का प्रकाशातिरेकेण सन्दर्शन, एतत् सम्बन्ध में विविध संशय निरसन, श्रीकृष्ण में विरुद्धधर्मकर्मावलि का समावेश, क्षीरोदशायी प्रभृति का अवतार भ्रमनिरास, श्रीराधा के आनुगत्य से ही श्रीकृष्णभजन सर्वश्रेष्ठ है, तद्विषय में विविध प्रमाण एवं सद्युक्ति का प्रदर्शन, अधिकारि निरूपण, "गाढ़लौल्यैक पदस्थ 'एक' शब्द की पञ्चविध व्यावृत्ति निर्देश पूर्वक विशुद्ध भजन का निर्देश, रागवर्त्म का सम्यक् विनिरूपण—इत्यादि हैं ।

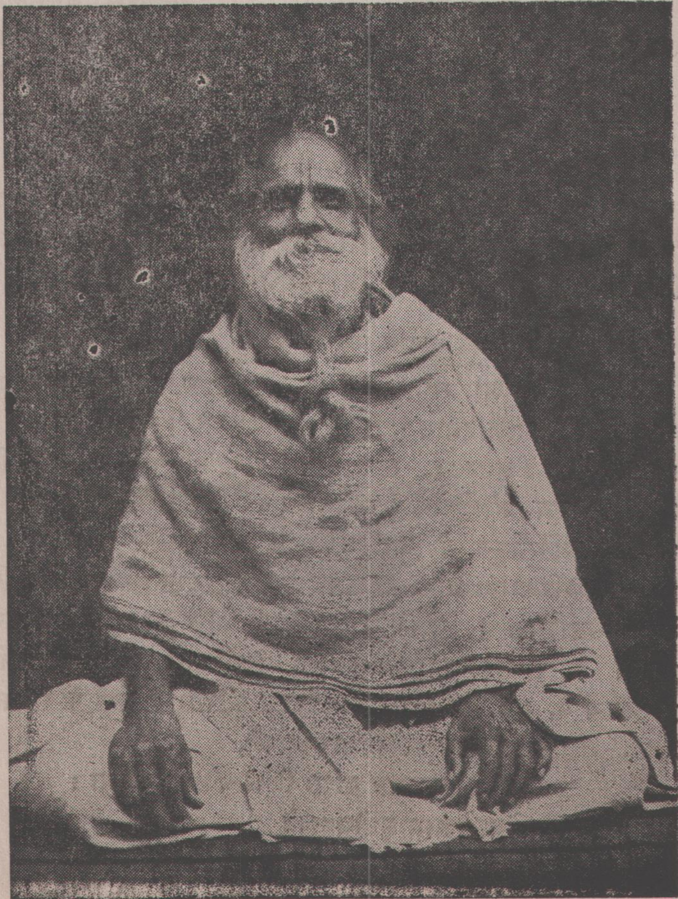
द्वितीय श्लोक का वर्णयितव्य विषय—

श्रीभगवल्लीला समूह का नित्यत्व स्थापन, भगवद्विग्रह प्रकट का प्रयोजन, लीलास्थान एवं परिकरगणों की नित्यता, अप्रकट एवं प्रकटलीला का समन्वय, लीलापरिकरगणों का परिचय, अलौकिक औपपत्य एवं लोकोत्तर परकीयात्व का विशेष विचार प्रभृति हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत के आदिखण्ड ८म परिच्छेद में वर्णित है, श्रीचैतन्यचरितामृत के रचना समय में श्रीहरिदासपण्डित, श्रीगोविन्द देव के सेवाध्यक्ष थे, उनके आदेश से ही श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थन हुआ । श्रीराधाकृष्णदास गोस्वामी श्रीहरिदास पण्डितगोस्वामी के ही शिष्य थे, एवं श्रीगोविन्द मन्दिरस्थ श्रीभानुनन्दिनी के सेवक थे,

"तस्यैव कान्तापरिचारकोऽसौ,
तयोश्च दासः किल कोऽपि नाम्ना ।
स्वकीयलोकस्य तदीयदास्ये
मति प्रवेशाय करोति यत्नम् ।।

श्रीचैतन्यचरितामृत का रचनाकाल १५३४–३७ शकाब्दा है, अतएव आनुमानिक १५५० शकाब्दा श्रीराधाकृष्ण गोस्वामी का श्रीवृन्दावनागमनकाल है। सुतरां षोड़श शकाब्दा के मध्यवर्त्ती समय ही प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना काल है। ग्रन्थकार का अपर वृत्तान्त अनुपलब्ध है।

श्रीहरिदासशास्त्री



※ श्री श्री गौरगदाधराभ्यां नमः । ※

※ श्रीश्री राधाकृष्णाभ्यां नमः । ※

दशश्लोकी-भाष्यम्



अमन्दवृन्दाबन-मन्दिरोदरे सुहेम-रत्नावलि-चित्रकुट्टिमे ।
सहोपविष्टं प्रियया समानया गोविन्ददेवं सगणं समाश्रये ॥१

तदीयसेवाधिपतिं महाशयं समस्तकल्याणगुणैकमन्दिरम् ।
वारेन्द्र-विप्रान्वयभूषणं गुरुं भजेऽनिशं श्रीहरिदास-संज्ञकम्॥२

तस्यैव कान्तापरिचारकोऽसौ तयोश्च दासः किल कोऽपि नाम्ना
स्वकीयलोकस्य तदीयदास्ये मति-प्रवेशाय करोति यत्नम् ॥३

श्रीश्री गौरगदाधरौ विजयेताम् ।

अनुवाद

नत्वा गदाधरं देवं गौरचन्द्रसमन्वितम् ।
दशश्लोकीतिविख्यात भाष्यभाषां करोम्यहम् ॥

मनहर श्रीवृन्दाबन के निकुञ्ज गृह के मध्य में अत्युत्कृष्ट स्वर्ण रत्न राजि द्वारा चित्रित मणिमय चत्वर एवं कुटीर में समान रूप गुणादि सम्पन्ना प्रेयसी श्रेष्ठा श्रीराधा के साथ उपविष्ट सगण श्रीगोविन्द देव को सम्यक् रूप से अवलम्बन करता हूँ ॥१॥

श्री राधागोविन्द देव के सेवाध्यक्ष, अत्युदार, निखिल कल्याण गुणनिधि, वारेन्द्र ब्राह्मण वंश भूषण श्री हरिदास नामक श्रीगुरुदेव का निरन्तर भजन करूँ ॥२॥

श्रीगोविन्द देव की कान्ता श्रीराधा का सेवक, नाम से उन दोनों के दास "श्रीराधाकृष्ण दास" उन दोनों के दास्य रस में

संसार-कूपे पतितानशेषानुद्धर्त्तुकामः कलिकाल-लोकान् ।
यः प्रादुरासीत् किल गौड़देशे चैतन्यचन्द्रं तममुं प्रपद्ये ॥४॥

इह खलु निजभजन रसामृतवितरणेनाध्यात्मिकादि-त्रिविधताप-परिशमन-पूर्वकं सर्वानेव जीवान् समुद्दिधीर्षुर्भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य-चन्द्रोऽवततार । अवतीर्य्य च दास्य-सख्य-वात्सल्यादि-नानाविध-भक्तिवासनावासितान्तःकरणेभ्यो नानाविधभक्तेभ्यस्तां तामेव तदभिरुचितां भक्तिं वितीर्णवान् । निजवर्गशिक्षणार्थं रहसि स्वयमनुष्ठीयमानां स्वाभिमतान्तु श्रीरूपगोस्वामिभ्यः ॥५॥

ननु श्रीकृष्णचैतन्यस्य भगवत्त्वे तावत् किं प्रमाणमिति चेत्, सत्स्वपि बहुषु पुराणवचन-विद्वदनुभवादिषु सकलोपनिषत्सारभूतं

निजानुगत जनगण की मति प्रवेश हो, इस उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ ॥३॥

संसार कूप में पतित कलि काल ग्रस्त निखिल लोकों को उद्धार करने की इच्छा से जो गौड़ मण्डल नवद्वीप में प्रादुर्भूत हुए हैं उन श्रीचैतन्यचन्द्र को ही मैं प्रकृष्ट रूप से अवलम्बन कर रहा हूँ ॥४॥

निज भजन रसरूप अमृत को वितरण कर आध्यात्मिक, आधि-दैविक, आधिभौतिक तापत्रय को विनष्ट करके सब जीव को सम्यक् रूप से उद्धार करने की इच्छा से भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र इस धरातल में (श्रीनवद्वीप में) अवतीर्ण हुए हैं। आप अवतीर्ण होकर दास्य, सख्य, वात्सल्यादि विविध भक्ति वासनामय चित्त विशिष्ट विविध भक्तगण को उन सब की रुचि के अनुसार उक्त प्रकार भक्ति का वितरण किए हैं। निजगण को शिक्षा देने के लिए स्वयं निर्जन में गम्भीरादि में जिस प्रेमभक्ति का अनुष्ठान किए हैं, जो उनके सम्पूर्ण सम्मत है, उस उन्नत उज्ज्वल-रसगर्भा भक्ति सम्पत्ति दान श्री रूपगोस्वामी को ही किए थे ॥५॥

प्रश्न—अच्छा, मैं जिज्ञासा करता हूँ, श्रीकृष्णचैतन्यदेव की भगवत्ता के सन्दर्भ में प्रमाण क्या है ?

भगवद्गीतोपनिषद्वचनमेव प्रथमतस्तावदवधार्य्यताम् । तद्यथा— "धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" इति (गी० ४।८)। धर्मश्च तत्प्रवर्त्तित-नामसंकीर्त्तनरूप एव मुख्यः कलौ, यदुक्तं श्रीविष्णुपुराणे-

"ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्त्य केशवम् ॥" इति ॥

श्रीभागवते तु स्पष्टमेव तस्य भगवत्त्वं निरूपितम् । तथा ह्येकादशस्कन्धे कलियुगोपास्य-कथनप्रसङ्गे-"कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् । यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥" (भा० ११।५।३२) अस्यार्थः— त्विषा कान्त्या यः अकृष्णो गौरस्तं सुमेधसो विवेकिनः कलौ यजन्ति उपासते । कैर्यजन्ति ? तत्राह— यज्ञैः पूजा-सम्भारैः ; किम्भूतैः यज्ञैः ? सङ्कीर्त्तनप्रायैः, संकीर्त्तनं बहुभिर्मिलित्वा अत्युच्चैः श्रीकृष्णगानम्, तत्प्रधानैः । कृष्णवर्णं

उत्तर— इस विषय में बहु बहु पुराण वचन एवं विद्वदनुभवादि विद्यमान् होने पर भी प्रथमतः सकल उपनिषद् के सार-स्वरूप भगवद् गीतोपनिषद् के वचन को सम्प्रति अवधारण करें। (गीता-४।८) में उक्त हैं—मैं धर्म संस्थापन करने के लिए युग युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ। यहाँपर प्रथम युग शब्द का अर्थ— प्रथम दिवस में, द्वितीय युग शब्द का अर्थ—युगल रूप में जानना होगा। "धर्म" शब्द से यहाँ पर इस कलि युग में श्रीमन् महाप्रभु प्रवर्त्तित नाम-सङ्कीर्त्तन का ही मुख्यत्व प्रतिपादित हुआ है, श्रीविष्णु पुराण में कथित है—सत्य युग में ध्यान, त्रेतामें यज्ञ द्वारा, द्वापर में परिचर्य्या द्वारा जो जो वस्तु का लाभ होता है, वे सब ही कलिकाल में श्रीहरि कीर्त्तन से ही लभ्य होता है। श्रीमद्भागवत के ११।५।३२ में कलि युग के उपास्य प्रतिपादन प्रसङ्ग में श्रीकृष्णचैतन्य देव की भगवत्ता सुस्पष्ट रूप से निर्णीत हुआ है। कृष्ण वर्ण इत्यादि श्लोक का अर्थ— जो कान्ति में अकृष्ण, अर्थात् गौर वर्ण हैं, उन की उपासना सुमेधा विवेकी व्यक्तिगण कलि युग में करते हैं। उपासना के उपादान के सन्दर्भ में कहते हैं, कीर्त्तन प्रधान पूजा के सम्भार के द्वारा ही

कृष्ण कृष्णेति नाम वर्णयति य स्तम्, प्रेमविवशतया गायति, परम-कारुणिकत्वेनोपदिशति च स्वभक्तेभ्य इति तथा तम्। किञ्च, करचरणादीन्यङ्गान्येव परमसुन्दरत्वात् उपाङ्गानि, कौस्तुभ-बन-माला-मुरली-प्रभृति-भूषणादीनि महाप्रभावमयत्वादस्त्राणि च, सुदर्शनाद्यस्त्रनिग्राह्यदैत्यतुल्यानां वहिर्मुखाणामङ्गादिदर्शनादेवासुर-स्वभाव-परित्यागेन भगवद्भक्तौ प्रवृत्तेः, तथा सर्वदैकान्तवासित्वेन पार्षदाश्च ते तथा; यद्वा पार्षदाः श्रीमदद्वैताचार्य्यादयः, तैः सह वर्त्तमानम्। अस्य गौरत्वं च "आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनु-युगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥" इति दशम-स्कन्धीय (८।१३) गर्गवचने पारिशेष्य-प्रमाणाच्च। तथाहि—'इदानीं कृष्णतां गतः' इत्यत्र इदानीमित्यनेन द्वापरस्योक्तत्वात्

आप अर्चित होते हैं। सङ्कीर्त्तन शब्द से अनेक व्यक्ति मिल कर श्रीकृष्ण नाम गान ही कथनीय है, कृष्ण वर्ण शब्द का अर्थ,—जो कृष्ण कृष्ण यह नाम का वर्णन करते हैं, एवं परम करुणा हेतु निज भक्तगण को उपदेश करते हैं। साङ्गोपाङ्ग इत्यादि की व्याख्या—जिन के कर-चरणादि अङ्ग समूह परम सुन्दर होने के कारण उपाङ्ग स्वरूप, एवं कौस्तुभ, बनमाला, मुरली प्रभृति भूषणादि महाप्रभावमय होने से अस्त्र स्वरूप हैं। कारण सुदर्शनादि अस्त्र द्वारा निग्रह योग्य दैत्य तुल्य वहिर्मुख व्यक्तिगण उक्त अङ्गादि के दर्शन से ही आसुरिक स्वभाव को परित्याग कर भगवद् भक्ति में प्रवृत्त होते हैं। और भी उक्त अङ्गादि सर्वदा नित्य रूप में उन के साथ विद्यमान होने के कारण वे सब ही पार्षद रूप में गण्य होते हैं। अथवा 'पार्षद' शब्द से श्रीमदद्वैताचार्य प्रभृति का ग्रहण हुआ है। श्रीचैतन्य देव की भगवत्ता के सम्बन्ध में एवं गौरत्व के सम्बन्ध में—श्रीमद्भागवतस्य दशम स्कन्ध (८।१३) में— हे नन्द महाराज! तुम्हारे पुत्र युग युग में तनु प्रकट किया है, शुक्ल, रक्त, पीत, यह तीन वर्ण के तनु विगत तीन युग में प्रकाशित हुए हैं। इदानीं (द्वापर में) आप कृष्णवर्ण प्राप्त हुए हैं, यह गर्ग वाक्य से उक्त हुआ है।

'द्वापरे भगवान् श्यामः' इत्येकादशस्कन्धे-(५।२७) ऽभिधानाच्च श्रीकृष्णस्य द्वापरोपास्यत्वं व्यक्तम्। शुक्लरक्तयोः सत्यत्रेतयोरुपास्यत्वं सत्यत्रेतोपास्यत्वेनैकादश (५।२०-२६) एव वर्णितश्च। कलौ श्रीगौरः परिशिष्यते। अतो वैशम्पायनीयसहस्रनामस्तोत्रे-'सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी' (—९२), तथा 'सन्न्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायण' (—७५) इत्यादीनि तस्यैव नामानि पठितानि इति साम्प्रदायिकाः ॥६॥

नन्वासन्नित्यनेन पीतस्यातीतत्व-निर्देशात् कथं भाविनो गौरस्य ग्रहणमिति चेत्-प्राचीन-श्रीगौरावतारापेक्षयातीतनिर्देशादिति ब्रूमः। न ह्यस्मिन्नेव कलौ श्रीगौरावतारः, किन्तु यदा यदा द्वापरे

क्यों कि—श्लोकस्थ 'इदानीं' शब्द से द्वापर युग लक्ष्य होने पर, एवं द्वापर में भगवान् श्यामवर्ण, 'श्याम नाम' भागवत ११।५।२७ की उक्ति से श्रीकृष्ण द्वापर युग के उपास्य हैं। सत्य में शुक्ल वर्ण, त्रेता में रक्तवर्ण अवतार की कथा, श्रीभागवत ११।५।२०-२६ की ही वर्णना है, अतएव परिशेष प्रमाण से स्थिर हुआ है कि—कलि में श्रीगौराङ्गदेव ही अवतार। इसलिए श्रीमहाभारत के सहस्रनाम स्त्रोत्र में सुवर्ण वर्णहेमाङ्ग सुवर्णवत् स्पृहणीय अङ्गविशिष्ट, वराङ्ग— परमसुन्दर अवयव विशिष्ट, चन्दनमय अङ्गद धारी, एवं सन्न्यासी, हरिरहस्यालोचनकारी, कृष्ण भिन्न विषय में उपरत, हरिकीर्त्तन प्रधान भक्तियज्ञ का परम आकर, केवलाद्वैत प्रभृति भक्ति विरोधि वादनिरसनकारी एवं महाभावादि भावकदम्ब के परमाश्रयस्थल प्रभृति नाममाला श्रीगौराङ्गदेव को लक्ष्य करके ही पठित हुई हैं, यह ही उक्त साम्प्रदायिक मत है। ६॥

जिज्ञासा यह है कि—उक्त भा० १०।८।१३ श्लोक में आसन्' शब्द तो अतीतकाल का निर्देशक है, तब कैसे उस से भावीगौरावतार का ग्रहण होगा? सम्प्रति उस का समाधान कहते हैं— प्राचीन गौरावतार को लक्ष्य करके ही उक्त श्लोक में अतीतकाल की क्रिया का प्रयोग हुआ है। केवलमात्र इस कलियुग में ही जो

श्रीकृष्णस्यावतारस्तदा तदैव कलौ श्रीगौरावतारस्य निश्चयात्, तस्य साक्षाच्छ्रीकृष्णत्वस्य सर्वविद्वदनुभवसिद्धत्वात्, मुनीनामपि मनसोऽप्यगोचरस्य श्रीकृष्णावताररहस्यचरितस्य तेन प्रकाशनाच्च। ननु तस्य श्रीकृष्णत्वे—

"प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः।
कृतादिष्वेव तेनैष त्रियुगः परिपठ्यते॥
कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम्।
अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम्॥"

इति त्रियुग-नामव्याख्यातृ-(१०४) विष्णुधर्म-वचनात्तस्य कलौ प्रत्यक्षता विरुध्येतेति चेन्न, यत इदमेव तस्य साक्षाच्छ्रीकृष्णत्वे मुख्यं लिङ्गं निरतिशयैश्वर्य्यत्वेन मर्य्यादामतिक्रम्य श्रीकृष्णस्य कलिप्रथमेऽवस्थानवदस्यापि तथात्वेनैव कलाववतरण-सम्भवादिति। अथ

गौरावतार हुआ है, ऐसा नहीं है, किन्तु जिस जिस समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार होता है, तत् परवर्त्ती कलि युग में ही श्रीगौरावतार भी होता है, यह ही निश्चय है। कारण श्रीचैतन्य ही जो स्वयं श्रीकृष्ण, यह उक्त सब विद्वदनुभव प्रमाण से सिद्ध हुआ है, एवं मुनिगण के भी मनः पथ के भी अतीत श्रीकृष्णावतार के रस रहस्य चरितादि श्रीचैतन्यदेव के द्वारा ही प्रकाशित हुआ है। सम्प्रति आपत्ति यह है कि,—श्रीचैतन्य ही श्रीकृष्ण होनेपर सत्य, त्रेता, द्वापर में जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूपधारी युगावतार होता है, कलि में उस प्रकार कोई भी अवतार प्रत्यक्ष रूप में अवतीर्ण नहीं होता है, अतः उन को त्रियुग कहा गया है, कलि के अवसान के समय वासुदेव ब्रह्मवादी कल्कि में प्रविष्ट होकर जगत की रक्षा करेंगे। विष्णु धर्म के इस त्रियुग शब्द से कलि काल में श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष अवतार निषिद्ध हो रहा है। इस का उत्तर यह है कि—यह युक्ति समीचीन नहीं है, कारण श्रीचैतन्य के श्रीकृष्णत्व में यह ही मुख्य असाधारण लिङ्ग (चिह्न) यह है कि—श्रीकृष्ण अपरिसीम ऐश्वर्य द्वारा द्वापर के अवतार रूप मर्यादा को अतिक्रम करके भी

विद्वदनुभवः तत्र परमविद्वच्छिरोमणीनां श्रीसार्वभौम-भट्टाचार्य्याणां, यथा –

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥ इति ।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीनां यथा—

वन्दे तं कृष्णचैतन्यं गौरं कृष्णमपि स्वयम् ।
यो राधाभाव-संलुब्धः स्वं भावं नितरां जहौ ॥

श्रीसनातन-गोस्वामिनां यथा—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यं भगवन्तं कृपार्णवम् ।
प्रेमभक्ति-वितानार्थं गौड़ेष्ववततार यः ॥

श्रीरूप-गोस्वामिनां यथा (स्तवमालायां)—

अपारं कस्यापि प्रणयिजनवृन्दस्य कुतुकी
रसस्तोमं हृत्वा मधुरमुपभोक्तुं कमपि यः ।

जिस प्रकार समय समय में कलि युग के प्रथम में आत्म प्रकाश करते हैं, तद्रूप श्रीचैतन्यदेव भी श्रीकृष्ण स्वरूप में ही कलि युग में अवतीर्ण हो सकते हैं । इस विषय में विद्वदनुभव प्रमाण को कहता हूँ । उस में परम विद्वत् शिरोमणि श्रीवासुदेव सार्वभौम कहे हैं—काल प्रभाव से स्वकीय भक्तियोग अन्तर्हित होने पर, जो उस भक्ति योग का पुनर्वार प्रादुर्भाव करने के लिए श्रीचैतन्य नाम धारण पूर्वक आविर्भूत हुए हैं, उन के पादपद्म में मदीय चित्त-भृङ्ग गाढ़ रूप में लीन हो । श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती पाद ने भी कहा है—जो राधा भाव में सम्यक् लुब्धचित्त होकर स्वकीय भाव को सर्वथा परित्याग किया है, स्वयं कृष्ण होकर भी गौर वर्णधारी हैं, उन कृष्णचैतन्य को मैं वन्दना करता हूँ । श्रीसनातन गोस्वामी पाद कहे हैं—प्रेमभक्ति वितरणार्थ जो गौड़मण्डल में अवतीर्ण हुए हैं, उन कृपानिधि भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य की मैं वन्दना करता हूँ । श्रीरूप गोस्वामी पादने कहा है—जो विनोदवान् पुरुषमणि किसी प्रणयिवृन्द के गोपाङ्गना गण के अनिर्वचनीय श्रृङ्गाररस राशि को अशेष-

रुचं स्वामावव्रे द्युतिमिह तदीयां प्रकटयन्
स देव श्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु ॥

श्रीरघुनाथदास-गोस्वामिनां यथा (मुक्ताचरित्रे ३)—

निजामुज्ज्वलितां भक्तिसुधामर्पयितुं क्षितौ ।
उदितन्तं शचीगर्भव्योम्नि पूर्णविधुं भजे ॥

श्रीजीव-गोस्वामिनां यथा (भागवतसन्दर्भे)—

अन्तःकृष्णं वहिर्गौरं दर्शिताङ्गादि-वैभवम् ।
कलौ संकीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः ॥

इत्यलमतिविस्तरेण । तदेवं तस्य भगवत्त्वे सिद्धे तदुपदिष्टार्थैक-प्रमेयत्वादस्य ग्रन्थस्यापि परम स्मृतिरूपत्वं सिद्धम् । श्रीरूप-गोस्वामिनोऽपि (रसामृते पूर्व २।१५१) "सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण

विशेष से आस्वादन करने के हेतु निज वर्ण को गोपन करके श्रीराधा की कान्ति को अङ्गीकार किए हैं। उन चैतन्याकृति श्रीगौराङ्ग हम सब के प्रति अनुकम्पा करें। श्रीरघुनाथदास गोस्वामी पाद ने कहा है कि—स्वकीय उज्ज्वल रसगर्भ भक्तिसुधा को जगत में अर्पण करने के लिए जो शची गर्भाकाश में उदित हुए हैं, उन पूर्ण शशी का ही मैं भजन करूँ। श्रीजीव गोस्वामी पाद ने कहा है—जो अन्तर में कृष्णवर्ण अथच बाहर में गौरवर्ण हैं, जो स्वीय अङ्गादि का वैभव जन-समाज में प्रकट किए हैं, हम सब इस कलियुग में सङ्कीर्त्तनादि के द्वारा उन की उपासना करते हैं।

इस प्रकार श्रीचैतन्यदेव की भगवत्ता प्रतिपादित होने पर इस ग्रन्थ उनके उपदिष्ट पुरुषार्थ को ही केवल प्रमेय रूप में निश्चय होने से यह परमस्मृति है, यह भी प्रतिपादित हुआ। इस रागानुगा भक्ति साधन में व्रजस्थित निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ जनगण के (श्रीगुरुदेव के) भावलुब्ध चित्त होकर उनके आनुगत्य से साधक रूप में यथावस्थित देह में एवं सिद्धरूप में अन्तश्चिन्तित स्वाभीष्ट सेवोपयोगी देह से सेवा में निरत होवे। इत्यादि कारिका के द्वारा श्रीपाद श्रीरूप गोस्वामी पाद ने उस उन्नत उज्ज्वलरत्न-रसगर्भा भक्ति को ही

चात्र हि । तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ॥" इत्यादिना तामेव भक्ति मुख्यतया निरूप्य स्तोत्रादिद्वारेण बहुधा प्रपञ्चितवन्तोऽपि रहस्यातिरहस्यतया स्वगणातिरिक्तेभ्यो गोपनाय नैकत्र कुत्रापि क्रमेण तदनुष्ठानप्रकारं निरूपयामासुः यदा च स्वीयानामाग्रहेण तन्निरूपणे प्रवृत्तास्तदेव तेषां भगवत्प्राप्तिसमय उपस्थितो बभूव । तञ्च समयं स्वयमेव ज्ञात्वा परमाप्ततमेभ्यः श्रीकृष्णदासकविराज-महानुभावेभ्यः साङ्गमेव तत्प्रकारमुपदिश्य त्वयैवैतत् प्रकाशनीयमिति तान् प्रत्याज्ञापितवन्तः । ते च तदाज्ञा-पराधीनाः स्वीयजनप्रार्थनावशं गताश्च सन्त स्तदेकप्रतिपादक-भगवन्नैतिचकचरितवर्णनात्मक-श्रीगोविन्दलीलामृताभिध-महाकाव्यरचना-व्याजेन यथोपदेशमेव तत्-प्रकारं निरूपयाम्बभूवुः । पुनश्च तामेव भक्तिमतिलघुनोपायेन बालान् ग्राहयितुं तदेव भगवन्नैतिचकं चरितं सिद्धान्तेन सूत्रयन्तो दशश्लोकीं

मुख्य भाव से निरूपण करके स्त्रोत्रादि रचना पूर्वक उसका ही बहु प्रकार से विस्तार करने पर भी महारहस्य हेतु स्वगण भिन्न अन्यत्र गोपन करने के अभिप्राय से इस का अनुष्ठान प्रकार कहीं पर एकत्र क्रमबन्धन द्वारा निरूपण नहीं किया है । जब निज परिकर गण के आग्रह से उसका निरूपण करने के लिए प्रवृत्त हुये, तब उनका भगवत प्राप्ति का समय उपस्थित हुआ। उस अन्तिम समय की कथा को स्वयं ही अवगत होकर श्रीपाद श्रीरूप ने तब परम विश्वस्ततम श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी महानुभाव को उस भक्ति के निखिल अनुष्ठान प्रकार अशेष-विशेष से उपदेश करके आज्ञा की, "तुम ही इस भक्ति रहस्य का अनुष्ठान प्रकार को प्रकाश करो" श्रीकविराज गोस्वामीजी ने उन को आज्ञा को शिरोधार्य करके एवं स्वीय गण की प्रार्थना से उक्त भक्ति प्रतिपादक श्रीकृष्ण का नैत्यिक चरित्र वर्णनात्मक "श्रीगोविन्दलीलामृत" नामक महाकाव्य रचना के च्छल से श्रीरूप प्रभुके उपदिष्ट भक्ति प्रकार का निरूपण यथायथ रूप से किए हैं । पुनर्वार उक्त भक्ति को सहज उपाय से बालक गण को बोध कराने के लिए श्रीकृष्ण के नैतिक चरित्र के अवलम्बन से

प्रणीतवन्तः। तत्रैकेन प्रथमतः सर्वमाथुर-वैष्णव-सम्प्रदायसिद्ध-सिद्धान्तरहस्य-निरूपणं, द्वितीयेन पूर्वश्लोकावशिष्ट-सिद्धान्त-कथन-पूर्वकमष्टकालिक्या नैतिचकलीलायाः संक्षेपेण कथनं, शेषैरष्टभिः श्लोकै स्तस्या एव लीलायाः क्रमेण पृथक्-पृथग्वर्णनेति विवेकः ॥७॥

अथ सिद्धान्त-निरूपणपुरःसरमधिकार्य्यभिधेय-सम्बन्ध-प्रयोजनाख्य-मनुबन्ध-चतुष्टयं निरूपयन्नभिधेयस्य नमस्कार-लक्षणं मङ्गलमाचरति —तत्र रागमार्गानुगामिनोऽधिकारिणः, नैतिचकं चरितमभिधेयं, तद्-ग्रन्थेन सह वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः, मानसी सेवा प्रयोजनं, प्रेम-सेवाप्राप्ति स्तु प्रयोजनस्य प्रयोजनमिति। तच्च मङ्गलाचरणपद्यं यथा —

श्रीराधाप्राणबन्धो श्चरणकमलयोः केशशेषाद्यगम्या
या साध्या प्रेमसेवा व्रजचरित-परैर्गाढ़लौल्यैकलभ्या।
सा स्यात् प्राप्ता यया तां प्रथयितुमधुना मानसीमस्य सेवां
भाव्यां रागाध्व-पान्थैर्व्रजमनुचरितं नैतिचकं तस्य नौमि ॥१॥

सिद्धान्त सूत्रके आकर रूप इस दशश्लोकी की रचना की है। उस में प्रथम श्लोक में प्रथमतः व्रजमण्डल के समग्र वैष्णव में प्रसिद्ध निष्पन्न सिद्धान्त रहस्य का निरूपण, द्वितीय श्लोक में पूर्व श्लोक के अवशिष्ट सिद्धान्त निर्णय करतः अष्टकालीन नित्य लीला की संक्षेपोक्ति है, परवर्त्ती अष्ट श्लोकों में उक्त लीला की क्रमशः पृथक् पृथक् वर्णना है ॥७॥

सम्प्रति गोस्वामिचरण, सिद्धान्त निरूपण करने के पश्चात् अधिकारी अभिधेय सम्बन्ध प्रयोजन नामक अनुबन्ध चतुष्टय का निर्णय प्रसङ्ग में अभिधेय का नमस्कार व्यजक मङ्गलाचरण कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के अनुशीलनाधिकारि रागानुगीय व्यक्तिगण हैं, नैत्यिक चरित ही इस का अभिधेय है, ग्रन्थ के साथ उसका वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, मानसीसेवा प्रयोजन है, एवं प्रेमसेवा प्राप्ति ही—प्रयोजनका भी प्रयोजन है, अर्थात् शास्त्रानुशीलन में प्रवृत्ति का मुख्य निदान है। उस मङ्गलाचरण पद्य यह है—

अस्यार्थः—श्रीराधाप्राणबन्धो श्चरणकमलयोर्या प्रेमसेवा सा यया मानस्या सेवया प्राप्ता स्यात्तामस्य श्रीराधाप्राणबन्धो र्मानसी-सेवां प्रथयितुं विस्तारयितुं तस्य श्रीराधाप्राणबन्धो र्व्रजमनु व्रजं लक्ष्मीकृत्य यत् नैत्यिकं चरितं दैनन्दिनी लीला तन्नौमीत्यन्वयः। किम्भूता ? प्रेमसेवा साध्या अशेषसाधनकदैकफलरूपा; फल-रूपत्वञ्च तस्याः परमपुरुषार्थत्वादेव। तथाहि—धर्मार्थकाममोक्षाख्या श्चत्वारः पुरुषार्थाः सुप्रसिद्धाः, तेभ्योऽपि भगवत्सेवैव परमपुरुषार्थः, सेवासुखानुभविनां तदनादर-श्रवणात् तथाहि तृतीयस्कन्धे (४।१५) श्रीमदुद्धव-वचनं—

को न्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोज-निषेवणोत्सुकः।। इति।

'ब्रह्मा, महेश्वर, अनन्तदेव भी जिस को जानते नहीं हैं, अथच जो वस्तु, व्रज चरित में आसक्त, अथवा अनुरागी जनगण ही एकमात्र प्रगाढ़ लोलता मूल्य से ही प्राप्त कर सकते हैं, जो वस्तु रागानुगा मार्गीय साधकगण के चिन्तनीय है, श्रीमती राधा के प्राणबन्धु श्रीकृष्ण के चरण कमल की प्रेम-सेवा प्राप्ति के उद्देश्य से उन की ही मानसी सेवा का विस्तार करने के लिए उनके द्वारा नित्य अनुष्ठित व्रजलीला को मैं नमस्कार करता हूं।"

सम्प्रति श्लोक के प्रतिपद का विश्लेषण एवं आस्वादन का वर्णन करते हैं, वह प्रेम-सेवा किस प्रकार है ? उत्तर,—साध्या, अर्थात् निखिल साधन परम्परा मूलीभूत मुख्यफल स्वरूपा प्रेम-सेवा ही परमपुरुषार्थ होने के कारण उस को फल स्वरूप कहा गया है। क्यों कि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चतुर्विध पुरुषार्थ तो प्रसिद्ध ही है, इस से भी भगवत् सेवा ही परमपुरुषार्थ है, कारण सेवा सुखानुभवी जनगण उक्त चतुर्वर्ग का अनादर करते हैं, अतः श्रीभागवत में (३।४।१५) कथित है—श्री उद्धव कहते हैं—हे ईश ! जो सब व्यक्ति आपके चरणारविन्द की सेवा करते हैं, उन के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—यह पुरुषार्थ चतुष्टय के मध्य में कोई भी

हयशीर्ष-पञ्चरात्रे च—

न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर !
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये ॥

किञ्च दुःखहानिः सुखावाप्तिश्च पुरुषार्थं इत्येके, सुखावाप्तिमात्रमित्यपरे ; तदुभयं तु सेवासाधनेऽपि दृश्यते ; तत्राद्यं यथा श्रीभागवते (३।७।१४)—अशेष-संक्लेश-शमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेरिति। द्वितीयं च यथा तत्रैव (८।३।२०)—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्द-समुद्रमग्नाः॥ इति।

अतएवोक्तं पञ्चमस्कन्धे (१४।४४)– मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुरिति। तदेवं सामान्यतो भगवत्सेवायाः परमपुरुषार्थत्वे सिद्धेऽपि निखिलभगवदाविर्भावेषु श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वेन

सुदुर्लभ नहीं है ; हे नाथ ! मैं किन्तु स्वतः प्राप्त उस पुरुषार्थ समूह को वरण नहीं करूँगा, कारण मैं आप के चरणारविन्द की सेवा में समुत्सुक हूँ। हयशीर्ष पञ्चरात्र में उक्त है—हे वरदराज ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को, कुछ भी मैं नहीं चाहता हूं। किन्तु मैं केवल आप के चरणकमल के दास्य की सर्वथा कामना करता हूं। अपरन्तु किसी के मत में दुःख नाश एवं सुख प्राप्ति ही पुरुषार्थ है, अपर के मत में सुख प्राप्ति ही पुरुषार्थ है, यह दोनों ही सेवा साधन में दृष्ट होते हैं, उस में दुःख नाश यथा (भा० ३।७।१४)—"मुरारि के गुणानुवाद से, तथा गुण कथा श्रवण से निखिल आध्यात्मिकादि क्लेश का विनाश साधन होता है। सुख प्राप्ति यथा (भा० ८।३।२०) जो जन भगवत् प्रपन्न हैं, वह एकान्ती कृष्ण भक्तगण कृष्ण की अत्यद्भुत मङ्गलनिदान चरितावली को गान करते करते आनन्द सागर में मग्न होकर किसी भी पुरुषार्थ की वाञ्छा नहीं करते हैं। इसलिए भागवतस्थ पञ्चमस्कन्ध में उक्त है—श्रीमधुसूदन की सेवा में अनुरक्तमनाः महाजनगण के निकट मोक्ष भी अतितुच्छ प्रतीत होता है। इस प्रकार सामान्यतः आलोचना से भगवत् सेवा का परमपुरुषार्थ

सर्वावतारित्वेन निरतिशयैश्वर्य्यत्वेन च श्रेष्ठतामालोच्य भगवतश्चरण-कमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नोक्तम् ॥८॥ तत्रानन्यापेक्षि भगवत्त्वं स्वयं भगवत्त्वम् । तद् यथा श्रीभागवते (१।३।२८)-"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति । सर्वावतारित्वं यथा ब्रह्मसंहितायां (५।१)—'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः । अनादिरादि र्गोविन्द सर्वकारण-कारणम् ।।' तथा (५।५४) – 'यस्यैकनिःश्वसित-कालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः । विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।" तथा (५।४५) 'रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् लीलावतारमकरोद्-भुवनेषु किन्तु । कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि ।।' इति । निरतिशयैश्वर्य्यत्वं यथा तृतीयस्कन्धे

प्रदायकत्व प्रतिपन्न होने पर भी निखिल भगवत् अवतारों के मध्य में श्रीकृष्ण का ही स्वयं भगवत्त्व, सर्वावतारित्व एवं निरतिशय ऐश्वर्यवत्त्व होने के कारण सर्वश्रेष्ठत्व की पर्यालोचना से ही भगवान् के चरणकमलों की प्रेमसेवा साध्या है, वैसा नहीं कहा गया है ।।८।।

"स्वयं भगवत्त्व" शब्द से जिस में अपर किसी की अपेक्षा नहीं है, उस का बोध होता है । श्रीभागवत में उक्त है (१।३।२८) पूर्वोक्त अवतार गण पुरुषोत्तम (परमेश्वर) के अंश अथवा कला विभूति हैं । किन्तु सर्वशक्तित्व हेतु श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं । उनका सर्वावतारित्व यथा—ब्रह्मसंहिता में सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही परमेश्वर, आप स्वयं अनादि एवं सब के आदि, एवं सर्वकारणों के कारण हैं । जिन महाविष्णु के एकमात्र निःश्वास काल को अवलम्वन कर तदीय रोमकूपजात ब्रह्माण्ड नाथ ब्रह्मा विष्णु शिवादि जीवन धारण करते हैं, अर्थात् अधिकारि स्वरूप में जगत में प्रकट रूप में अवस्थान करते हैं, वह महाविष्णु जिस गोविन्द की एक कला है, उन आदिपुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूं । जो रामादि मूर्त्ति में अंश रूप में नियत वर्त्तमान होकर भी उन उन मूर्त्ति को प्रकट करके भुवन समूह में नानाविध अवतार को प्रकट करते हैं,—किन्तु कृष्ण

(२।२१) "स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः। बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीड़ितपादपीठः ।।" इति। तत्रापि गोकुले तस्य पूर्णतमप्रकाशात् सर्वासाधारणगुणचतुष्टयवत्त्वाच्च श्रीकृष्णस्य चरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नोक्तम्। तत्र गोकुले तस्य पूर्णतमता यथा ह्याकरे [भ,र,सि,दक्षिण १।११८-१२०]— 'नित्यगुणो बनमाली यदपि शिखामणिरखिलनेतॄणाम्। भक्तापेक्षिकमस्य त्रिविधत्वं लिख्यते तदपि।। हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा। श्रेष्ठमध्यादिभिः शब्दै र्नाट्ये यः परिपठ्यते। प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः। असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः। कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताभूद्गोकुलान्तरे।

मूर्त्ति में साक्षात् परमपुरुष ही स्वयं रूप में अवतीर्ण हुए हैं, उन आदिपुरुषगोविन्दका मैं भजन करता हूं। उनकी निरतिशयऐश्वयवत्ता यथा (भा० ३।२।२१) वह श्रीकृष्ण स्वयं त्रिलोक के, पुरुषत्रय के, अथवा गुणत्रय के अधीश्वर हैं एवं परमानन्द स्वरूप सम्पत्ति (अंश, भक्त, शक्ति, लीला, ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य) द्वारा समस्त भोग को प्राप्त करते हैं, सुतरां उनके समान अथवा उन से अधिक कोई भी नहीं हो सकता है। चिरन्तन लोकपाल गण भी उनके सामने आकर करप्रदान पूजोपहार करते हैं, एवं निज निज किरीटसंघट्टध्वनि के द्वारा ही पाद पीठ की स्तुति करते रहते हैं। उस में भी गोकुल में आप का पूर्णतम प्रकाश है, एवं सर्वथा असाधारण गुण चतुष्टय रहने पर भी उस श्रीकृष्ण के चरणकमल की प्रेमसेवा साध्या—इस प्रकार नहीं कहा गया है। गोकुल में पूर्णतमता है, इस सम्बन्ध में भक्तिरसामृतसिन्धु में उक्त है—"निखिलनायक-चूड़ामणि श्रीकृष्ण नित्यगुणशालि होने पर भी भक्तभक्ति निर्वाहक हेतु अधिकाधिक प्रकाश के कारण तीन प्रकार गुणको लिख रहा हूँ। हरि पूर्णतम, पूर्णतर, एवं पूर्ण रूप में नाट्यशास्त्र में श्रेष्ठ मध्यादि शब्द में कथित हैं। अखिलगुण प्रकाशक हरि पूर्णतम, उन की अपेक्षा अल्पगुण प्रकाशक पूर्णतर, उससे भी अल्पगुण प्रकाशक पूर्ण हैं।

पूर्णता पूर्णतरता द्वारका-मथुरादिषु ॥" इति । गोकुले पूर्णतमताभिव्यक्तिश्च निखिलगुणानां तत्र प्रकाशनेनैव । गुणाः त्रिविधाः—असाधारणाः, साधारणा, साधारणासाधारणाश्चेति । ततः साधारणासाधारणानां पूर्णतमसंज्ञा बोद्धव्या,प्रकाशनञ्च असाधारणानां स्वरूपतः तेषामंशाभावात्, अन्येषा तु अंशतः, साधारणानां पूर्णत्वेन, साधारणासाधारणानां पूर्णतमत्वेनैवेत्यर्थः। तत्र पूर्णत्वादित्रितयविशिष्टकृष्णमात्रवृत्तयःपूर्णतमाः, तेच मधुरैश्वर्य्यंमधुरनामवत्त्वं मधुरकृपावत्त्वञ्चेति त्रयः। तत्रः च पूतनाशकट-तृणावर्त्त-यमलार्जुन-वत्साघ-वक-शङ्खचूड़-व्योमारिष्टकेशि-बधादिना, मात्रे विश्वरूप-प्रदर्शनेन तया दामबन्धने विभुत्वप्रकाशनेन कालियदमन-दावाग्निमोक्षण-गोवर्द्धनोद्धारणादिभि र्बालक्रीड़ायां ब्रह्मरुद्रादिष्वप्यदृक्पातादिना च माधुर्य्यापरित्यागेन यदैश्वर्य्यादिकं प्रकाश्यते, तत्

गोकुल में श्रीकृष्ण की पूर्णतमता, मथुरा में पूर्णतरता, एवं द्वारका में पूर्णता प्रकटित है।" गोकुल में पूर्णतम अभिव्यक्ति का कारण है,—वहाँपर निखिल गुणराजि का प्रकाशन। गुण त्रिविध हैं,—असाधारण, साधारण, साधारण-असाधारण। सुतरां साधारणासाधारण गुणावलि की ही पूर्णतम संज्ञा जाननी होगी। असाधारण गुण गण के अंश भाव के कारण स्वरूपतः ही प्रकाश होता है, अन्य गुणावली किन्तु अंशत प्रकाशित हैं। अर्थात् साधारण गुणावली श्रीकृष्ण में पूर्णरूप में प्रकाशित हैं, एवं साधारणासाधारण गुणराजि पूर्णतम रूप में प्रकाशित हैं, उन में पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम कृष्ण में यह साधारणासाधारण गुण समूह यथायथ रूप में रहते हैं, उक्त पूर्णतम गुण भी मधुर ऐश्वर्य, मधुर नामवत्त्व, मधुर कृपावत्त्व रूपसे तीन प्रकार होते हैं। उस में पूतना, शकट, तृणावर्त्त, यमलार्जुन, वत्स, अघ, वक, शङ्खचूड़, व्योम, अरिष्ट एवं केशिदैत्य बधादि में मा यशोदा को विश्वरूप प्रदर्शन में, माता के द्वारा दामबन्धनावसर में विभुत्व प्रकाशन में, कालियदमन में, दावाग्नि मोक्षण में गोवर्द्धन धारणादि में एवं बाल्य क्रीड़ा में ब्रह्मरुद्रादि के प्रति अदृष्टिपात

खलु मधुरैश्वर्य्यादिकमित्युच्यते। तेषु माधुर्य्यापरित्यागश्च तेनैव वपुषा तेषामलौकिकानां कर्मणां करणात्। तदुक्तमाकरे [लघुभागवतामृते १।२८५]—'चतुर्धा माधुरी तस्य व्रज एव विराजते। ऐश्वर्य्यक्रीड़यो र्वेणो स्तथा श्रीविग्रहस्य च॥' तत्र ऐश्वर्य्यं—'कुत्राप्यश्रुतपूर्वेण मधुरैश्वर्य्यराशिना। सेव्यमानो हरिस्तत्र विहारं कुरुते व्रजे। यत्र पद्मजरुद्राद्यै स्तूयमानोऽपि साध्वसात्। दृगन्तपातमप्येषु कुरुते न तु केशवः॥' यथा ब्रह्माण्डे नारदवाक्ये—

"ये दैत्या दुःशका हन्तुं चक्रेणापि रथाङ्गिना। ते त्वया निहताः कृष्ण! नव्यया बाललीलया॥ सार्द्धं मित्रै र्हरे! क्रीड़न् भ्रूभङ्गं करुषे यदि। सशङ्का ब्रह्मरुद्राद्याः कम्पन्ते खस्थिता स्तदा॥"इत्यन्तेन ग्रन्थेन। व्रज एवेत्येवकारेण मथुरा-द्वारके व्यावर्त्तयति। तयो

प्रभृति में माधुर्य का परित्याग न करके भी जो ऐश्वर्य प्रकाशित होता है, उस को मधुरैश्वर्य्य कहा जाता है। उस उस लीला में माधुर्य का अपरित्याग शब्द से उस नरवत् देह में ही उक्त सब अलौकिक कर्म सम्पादन का बोध होता है। लघु भागवतामृत में उक्त है कि—नराकृति-परब्रह्म श्रीहरि का ऐश्वर्य, क्रीड़ा, वेणु, श्रीविग्रह प्रभृति की चार प्रकार माधुरी गोकुल में ही विराजमान है, उस में ऐश्वर्य माधुरी, पहले जिस का श्रवण कहीं पर नहीं हुआ है। इस प्रकार मधुर ऐश्वर्य राशि के द्वारा सेव्यमान श्रीहरि उस व्रज में विराजित हैं। जिस व्रज में ब्रह्मरुद्रादि देवगण के द्वारा सम्भ्रम के साथ स्तूयमान होकर भी आप उन सब के प्रति कृपा कटाक्ष दान भी नहीं करते हैं॥ ब्रह्माण्ड पुराण में श्रीनारदजी ने कहा हैं,—हे कृष्ण, आपने द्वारकानाथ रूप में चक्र से भी जो सब दैत्य को बध नहीं कर सका, अब नव बाल्यलीला प्रकट कर उस सब का बध आपने किया है। यदि आप सखागण के साथ खेलते खेलते एकवार भ्रूभङ्गी करते हो, तब आकाशस्थ ब्रह्मरुद्रादि देवतागण भय से कम्पित होते हैं। इस श्लोक में 'व्रजे एव' इस पदसे एव-कार के द्वारा मथुरा द्वारका का परिहार किया गया है।

र्व्यावृत्तिश्च पूर्णतम-मधुरैश्वर्यस्य तत्रासत्त्वात्, अन्येषां त्रयाणां सर्वथा रहस्यत्वाच्च। मधुरैश्वर्यमात्रन्तु तत्रास्त्येव, अतएवास्य नासाधारणत्वं, अन्यथा त्वसाधारणानां, चतुष्टयत्व-प्रतिज्ञा हानिरपि प्रसज्येत ॥६॥

मधुरनामवत्त्वे यथा ब्रह्माण्डपुराणे "सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम्। एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैव तत् प्रयच्छति ॥" इति एतद्वचनं गोकुललीलादित्रिविध-लीलापराणां सर्वेषां श्रीकृष्णनाम्नां माहात्म्यपरं, तादृशतदीयाष्टोत्तरशतनाम्नां प्रकरणेऽप्यभिधानात् कृष्णेतिवर्णद्वयात्मकमाहात्म्यपर, यथा विष्णु-धर्मोत्तरे—"सत्यं ब्रवीमि ते शम्भो ! गोपनीयमिदं मम। मृतसञ्जीवनी नाम कृष्णाख्यमवधारय ॥" इति। स्कान्दे प्रभासखण्डे—"मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्लीसत्फलं

कारण उक्त धाम द्वय में पूर्णतम मधुर ऐश्वर्य का विकाश नहीं है, एवं अन्य तीन—(क्रीड़ा, वेणु, श्रीविग्रह-माधुरी) भी सर्वदा रहस्य मूलक ही है। द्वारका एवं मथुरा धाम द्वय में मधुर ऐश्वर्य तो है ही, सुतरां यह गुण (मधुरैश्वर्यमात्र) असाधारण नहीं है, यदि द्वारका मथुरा में पूर्णतम मधुर ऐश्वर्य विकाशित होता तब, पूर्वोक्त असाधारण गुणावलि का चतुर्विधत्व निर्देशक प्रतिज्ञा की हानि होती ॥६॥

मधुर नाम के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड-पुराण में उक्त है कि—पुण्य-मय (विष्णु) सहस्रनाम की तीनबार आवृत्ति करने से जो फल होता है, केवल मात्र एकबार श्रीकृष्ण नाम ग्रहण से ही वह फल होता है। यह वचन गोकुलादि त्रिविध लीलायुक्त सकल श्रीकृष्ण नाम का माहात्म्य-प्रतिपादक है, कारण ब्रह्माण्ड पुराणीय श्रीकृष्ण के अष्टोत्तरशतनाम के प्रकरण में सकल लीलासूचक नाम उक्त है। सुतरां उक्त वचन—'कृष्ण' यह अक्षर द्वयात्मक नाम की ही महिमा बोधक है, विष्णुधर्मोत्तर में उक्त है,—हे शम्भो ! मैं सत्य ही तुम्हें गोपनीय बात कह रहा हूं कि—"कृष्णनाम मृतसञ्जीवनी है"—यह निश्चय है। स्कन्दपुराण में उक्त है,—हे भृगुवर शौनक !

चित्स्वरूपम् । सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर ! नर-मात्रं तारयेत् कृष्णनाम ।।" इति । मधुरेभ्यः श्रीरामनामादिभ्योऽपि मधुरं, मङ्गलरूपाणां तेषामपि परममङ्गलरूपमित्यर्थः । अतएव वेदलतायाः प्रकृष्टं फलं परिर्निषेधे. परिगीतमगीतं श्रद्धया हेलया वा सकृदपि अनुच्चारितमपि उच्चारणाय कृतप्रयत्नस्य कण्ठस्थितम-पीत्यर्थः । तत्तु तादृशत्वेनाप्युच्चारितमेव; अतएव नरमात्रं मूकमपीत्यर्थः । तत्तु न तथा 'अमूकलोकसुलभः'[नामकौमुदी ३।१] इत्युक्तेः । अतएव चितां तेषां स्वरूपं स्वस्य वाच्यांशिनो वाचकत्वा-दिति, कृष्णशब्दस्य च 'तमालश्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धये रूढ़िः'

कृष्णनाम मधुर से भी सुमधुर, सकल मङ्गल का भी मङ्गल स्वरूप, सकल वेद कल्पलतिका का उत्कृष्टफल एवं चित् ब्रह्म स्वरूप है, वह श्रद्धा अथवा हेला से भी एकबार मात्र गृहीत होने पर मनुष्य मात्र को त्राण करता है। इस का विश्लेषण करते हैं—मधुर श्रीराम नामादि से भी मधुर, मङ्गलस्वरूप, श्रीरामनाम प्रभृति का भी परममङ्गल स्वरूप है। अतएव वेद रूप लता का प्रकृष्ट फल है। 'परि' उपसर्ग निषेध वाचक है, श्रद्धापूर्वक अथवा अवहेला पूर्वक परिगीत, असम्यक् प्रकार से भी उच्चारित होने पर एकबार मात्र उच्चारित होने पर भी अनुच्चारित अर्थात् उच्चारण करने के लिए चेष्टा-शील जन के कण्ठ मध्यस्थित, अव्यक्त, असम्पूर्ण होने पर भी उक्त कृष्णनाम उसका उद्धार करता है । कण्ठसे निष्काशित न होने परभी उक्त नाम उच्चारित हुआ है, यह कहना होगा । इसलिए मूल में 'नरमात्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, नरमात्र शब्द से मूक व्यक्ति का भी ग्रहण किया गया है । किन्तु कृष्णनाम व्यतीत अनुच्चारित होने पर (विष्णु, रामादि) नाम फलप्रसू नहीं होता है। कारण भगवन्नाम कौमुदी में श्रीलक्ष्मीधर ने कहा है—जिह्वा रहित गूँगा व्यक्ति व्यतीत आचण्डाल सब के लिए विष्णु रामादि नाम फलप्रद है। अतएव चित्-स्वरूप अर्थात् चिन्मय वह श्रीरामादि नाम का स्वरूप, कारण उक्त कृष्णनाम वाच्य अंशी स्वयं भगवान् का वाचक है ।

इति (नामकौमुदी-३) तत्रैव तस्य मुख्या प्रवृत्तिरिति श्रीलक्ष्मीधर-चरणाः। पूर्णे पूर्णतरे च तत्तद्रूपा प्रवृत्ति रस्त्येवेति मुख्यपदोदन्यासः। असाधारणगुणानान्तु न पूर्णतमत्वं, स्वरूपमाधुर्य्यादिनामसाधारणत्वेन प्रतियोगिनां पूर्ण-पूर्णतराणां तेषामभावात्। तत्तदभावश्च बाल्य-पौगण्ड-गोपकुमारत्वादिविशेषणाभावकृत-विशेष्याभावात्; वेणु-माधुर्य्यादीनान्तु स्वरूपत एवाभावाच्च। साधारणगुणानाञ्च पूर्ण-पूर्णतरेष्वपि वृत्ते र्न पूर्णतमत्वम्। पूर्णतमत्वं हि पूर्णपूर्णतरापेक्षया, न त्वपूर्णादिक्षयापि। तदितरवृत्तयश्च तैःपूर्णा एव तदुक्तं [भ, र, सि दक्षिणविभाग]– 'जीवेष्वेते वसन्तोऽपि विन्दुविन्दुतया क्वचित्' (२६)

कृष्ण शब्द भी मुख्य वृत्ति में कृष्णशब्द तमाल श्यामल यशोदानन्दन में ही रूढ़ि है। प्रकृति प्रत्ययार्थ निरपेक्ष शब्द बोध जनक है)। यह ही श्री लक्ष्मीधरस्वामिपाद का कथन है। पूर्ण, पूर्णतर कृष्ण में भी ठीक उस प्रकार तात्पर्य होने के कारण मुख्यपद का विन्यास हुआ है। प्रकृति प्रत्ययादि द्वारा निष्पन्न कृष्ण शब्द से अनेकार्थ बोधित होने पर भी, अभिधा वृत्ति से स्वयं भगवान् श्यामसुन्दर ही वाचक हैं। असाधारण गुणचतुष्टय की पूर्णतमत्व संज्ञा नहीं होती है। कारण स्वरूप माधुर्य्यादि अनन्य साधारण होने के कारण पूर्णतम स्वरूप का प्रतियोगी पूर्ण एवं पूर्णतम स्वरूप में उक्त असाधारण गुणराजि का प्रकाश नहीं है। पूर्ण एवं पूर्णतर स्वरूप में बाल्य, पौगण्ड एवं गोपकुमारत्व का सम्यक् अभाव है, अतः उक्त उक्त कालोचित अवस्था विशेष का लीला विनोद भी प्रकाशित नहीं होता है। वेणुमाधुरी इत्यादि तो उक्त स्वरूपों में स्वरूपतः ही नहीं है। साधारण '६०' गुणावली (सुरम्याङ्गत्व इत्यादि) पूर्ण एवं पूर्णतर स्वरूप में भी विराजमान है, अतः उस की पूर्णतमता स्वीकृत नहीं है। पूर्णतमता संज्ञा भी अवश्य ही पूर्ण एवं पूर्णतम संज्ञा की अपेक्षा रखती है, अपूर्ण वस्तुके साथ तुलना करके कोई भी व्यक्ति पूर्णतमता कीसंज्ञा नहीं देता है। श्रीकृष्ण व्यतीत अन्यस्थल में उक्त गुणावली अपूर्ण रहती हैं, भक्तिरसामृत में उक्त है,—किसी किसी

इति, 'अंशेन गिरिशादिषु' (२९) इति, 'अमी कृष्णे किलाद्भुताः' (३२)इति च। ततश्चापूर्णापेक्षया तेषां पूर्णतैव श्रीकृष्णे, तदप्युक्तं— 'परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे'(२७) इति। तदत्रायं निष्कर्षः —असाधारण-गुणानां प्रतियोग्यसद्भावात् साधारण-गुणानाञ्च प्रतियोगीतरेष्वपि सत्त्वान्न पूर्णत्वं पूर्णतरत्वं पूर्णतमत्वं तद्भिन्नानान्तु मधुरैश्वर्य्य-मधुरकृपा-मधुरनाम्नां पूर्णादित्रयमात्रवृत्तित्वात् यथायथं पूर्णत्वं पूर्णतरत्वं पूर्णतमत्वमपीति। अत्र पूर्णत्वन्तु स्वरूपत एव पूर्णतराद्यपेक्षया वेति नापूर्णापेक्षयेत्यलं विस्तरेण। द्वारका-मथुरादिष्विति 'द्वन्द्वात् परं श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यत' इति

भगवदनुगृहीत जीव समूह में सुरम्याङ्गत्वादि ५० गुण विन्दु विन्दु रूप में कभी विकसित होते हैं। सदास्वरूप संप्राप्त प्रभृति पञ्च गुणावली, श्रीशिव-ब्रह्मादि में अंशत विराजमान हैं। अविचिन्त्य महाशक्ति प्रभृति पञ्चगुण श्रीकृष्ण की नरलीला को अतिक्रम न करके आविर्भूत होता है, अतः वे सब उनके सम्बन्ध में अद्भुत ही होता है। सुतरां उक्त गुणराजि कहीं तो विन्दु रूप में कहीं तो आभास रूप में प्रकाशित होने से ही उक्त स्वरूप की अपूर्णता की अपेक्षा करके ही कहा गया है, कि—श्रीकृष्ण में ही उन सब की पूर्णता है। रसामृत में उक्त है—५० गुण परिपूर्ण भाव से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में प्रकट होते हैं। सम्प्रति निष्कर्ष यह है कि—असाधारण गुण समूह का प्रतियोगी नहीं है, एवं प्रतियोगी अन्यत्र जीवादि में भी साधारण गुणावलि की वर्त्तमानता हैं, इसलिए इस की पूर्णता, पूर्णतरता वा पूर्णतमता नहीं है। एतद् व्यतीत मधुर ऐश्वर्य, मधुर कृपा, मधुर नाम, पूर्वादि स्वरूप त्रय में वर्त्तमान होने के कारण उन की यथायथ पूर्णतादि संज्ञा भी होती है। यहाँपर पूर्णता कहने से स्वरूपतः पूर्णता का बोध ही है। अथवा पूर्णतर, पूर्णतमता को लक्ष्य करके ही समझना होगा, किन्तु अपूर्ण को लक्ष्य करके 'पूर्ण' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

गोकुल में श्रीकृष्ण की पूर्णतमता, द्वारका मथुरादि में उन को

न्यायेनादि-शब्दस्य प्रत्येकं योगः। ततश्च द्वारकादिष्विति – आदि-शब्दाद्धस्तिनापुरेन्द्रप्रस्थयो र्ग्रहणं, मथुरादिष्वित्यत्र च ब्रह्महृदाक्रूरयो र्ग्रहणं। द्वारकादिषु पूर्णता, मथुरादिषु पूर्णतरतेति यथाक्रमं योज्यं। मथुरादिषु नरलीला-प्राधान्यान्माधुर्य्यापरित्यागेनाक्रूरायैश्वर्य्यदर्शनकुवलयापीड़-चानूरादिकंस-जरासन्ध-शल्यबधः,सकृदुच्चारणमात्रेण साङ्गवेदादिग्रहण-गुरुपुत्रानयन-यादवद्वारकाप्रापण-कालयवनघातनादिलीलानां करणात् पूर्णतर-प्रकाशता। द्वारकादिषु तु बाहुल्येनाविष्कृतैश्वर्य्यत्वात् प्रायः प्रादुष्कृत-चतुर्भुजत्वाच्चैद्यदन्तवक्रादि-मोक्षण-परीक्षिद्रक्षण-नारदाय योगमाया वैभवदर्शनादिलीला-करणेऽपि पूर्ण प्रकाशतवेति भावः। एवं सत्याकरोक्तं मथुरावृन्दाबनयोरेकजातीयधामत्वं द्वारकापेक्षया मथुराया उत्कर्षत्वश्च सङ्गच्छेत। तद् यथा – (लघुभाग १।२७७) धामास्य द्विविधं प्रोक्तं

पूर्णता पूर्णतरता प्रकटित है। मूल इस श्लोकस्थ द्वारका मथुरादि पद का आदि शब्द—द्वारका शब्द में भी प्रयुक्त होगा, कारण न्याय है कि—द्वन्द्व समास का परवर्त्ती शब्द समासस्थ सकल पद में ही अन्वित होता है। सुतरां द्वारकादि में पूर्णता एवं मथुरादि में पूर्णतरता सिद्ध हुआ। द्वारका कहने पर हस्तिनापुर-इन्द्रप्रस्थ एवं मथुरा कहने से ब्रह्म-ह्रद अक्रूर तीर्थ का भी ग्रहण हुआ। मथुरादि में नरलीला का प्राधान्य हेतु माधुर्य का परित्याग न करके ही अक्रूर का ऐश्वर्य दर्शन, कुवलयापीड़, चानूरादि, कंस, जरासन्ध, शल्य प्रभृति बध, एकबार उच्चारण से ही षड़ङ्गवेदादि का अध्ययन, मृत गुरुपुत्र का आनयन, यादवगणों का द्वारका प्रापण, एवं कालयवन निपात इत्यादि लीलाविष्कार में पूर्णतर प्रकाशता को कहना होगा। किन्तु द्वारकादि में बहुशः ऐश्वर्य्य आविष्कृत एवं प्रायशः चतुर्भुज मूर्त्ति प्रकटित हुई है। दन्तवक्रादि का मोक्षण, परीक्षित रक्षण, नारद के प्रति योगमाया-वैभवदर्शन-लीलाप्रकटन में भी पूर्ण प्रकाशता को समझना होगा। इस प्रकार व्याख्या से ही श्रीलघु-भागवतामृतोक्त मथुरा एवं वृन्दाबन की एकजातीयता एवं द्वारका

माथुरं द्वार्वती तथा। माथुरश्च द्विधा प्राहु र्गोकुलं पुरमेव चेति। तथा—'एवं सप्तपुरीणान्तु सर्वोत्कृष्टन्तु माथुरमिति' पाद्मवाक्यं (२७८) तत्रोदाहृतमिति ॥१०॥

अथासाधारण-गुणचतुष्टय विवेकार्थं साधारणगुणा लिख्यन्ते, ते चोक्ता आकरे—[भ, र, सि, दक्षिण, विभाव—१६-३२]

अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभान्वितः॥
विदग्ध श्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढ़व्रतः।
देशकाल-सुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचि र्वशी॥

की अपेक्षा मथुरा की उत्कर्षता सङ्गत होती है। उक्त वचन इस प्रकार है—श्रीकृष्णलोक द्विविध हैं,—माथुर एवं द्वारका। मथुरा भी द्विविध हैं—गोकुल एवं मथुरापुरी। एवं अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्ती, एवं द्वारका—यह सप्तपुरी मोक्ष दान कारिणी हैं। इस के मध्य में सर्वोत्कृष्ट धाम—माथुर मण्डल है, पद्मपुराणीय वाक्य भी उसके उदाहरण रूप में उद्धृत हुआ है॥१०॥

सम्प्रति असाधारण गुणचतुष्टय का विवेक (भेद निरूपण) के लिए प्रथमतः भक्तिरसामृतोक्त साधारण गुणावलि का उल्लेख करते हैं—

यह नायक कृष्ण १। सुरम्याङ्ग, २। सर्वसुलक्षणयुक्त, ३। सुन्दर, ४। महातेजस्वी, ५। बलवान्, ६। किशोर वयस्क, ७। विविध अद्भुत-भाषाभिज्ञ, ८। सत्यवाक्, ९। प्रियभाषण, १०। वाक्पटु, ११। सुपण्डित, १२। बुद्धिमान्, १३। प्रतिभाशाली, १४। विदग्ध, १५। चतुर, १६। दक्ष, १७। कृतज्ञ, १८। सुदृढ़ व्रत, १९। देशकाल-सुपात्रज्ञ, २०। शास्त्रदृष्टि, २१। शुचि, २२।

स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः ।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत् ।।
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागत-पालकः ।
सुखी भक्त-सुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः ।।
प्रतापी कीर्त्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः ।
नारीगण-मनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान् ।।
वरीयानीश्वरश्चेति गुणा स्तस्यानुकीर्त्तिताः ।
समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हरेरमी ।।
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि विन्दुविन्दुतया क्वचित् ।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे ।।
अथ पञ्च गुणा ये स्युरंशेन गिरिशादिषु ।
सदा स्वरूप-संप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः ।।
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग श्चिदानन्दघनाकृतिः ।
स्ववशाखिलसिद्धिः स्यात् सर्वसिद्धिनिषेवितः ।।

वशी, २३। स्थिर, २४। दान्त, २५। क्षमावान्, २६। गम्भीर, २७। धृतिमान्, २८। रागद्वेषशून्य, २९। वदान्य, ३०। धार्मिक, ३१। शूर, ३२। करुण ३३। मान्यमानद, ३४। दक्षिण, ३५। विनयी, ३६। लज्जालु, ३७। शरणागतपालक, ३८। सुखी, ३९। भक्त-सुहृत, ४०। प्रेमवश्य, ४१। सर्वशुभङ्कर, ४२। प्रतापी, ४३। कीर्त्तिमान्, ४४। लोकानुरक्त, ४५। साधुसमाश्रय, ४६। नारीगण-मनोहारी, ४७। सर्वाराध्य. ४८। समृद्धिमान्, ४९। वरीयान्, ५०। ईश्वर। समुद्रवत् दुर्विगाह. यह पञ्चाशगुण विन्दु विन्दु रूप में भगवदनुगृहीत जीवनिचय में रहने पर भी परिपूर्ण रूप में श्रीकृष्णचन्द्र में ही वर्त्तमान हैं।

अपर पाँचगुण आंशिक रूप में सदाशिव एवं द्विपरार्द्ध कालीन ब्रह्मा में रहते हैं—१। सदास्वरूप-संप्राप्त, २। सर्वज्ञ, ३। नित्य-नूतन, ४। सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, ५। सर्वसिद्धिनिषेवित।

अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्त्तिनः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः॥
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः॥

इत्येते षष्टि र्गुणा इन्द्रादिजीव-श्रीरुद्र-श्रीनारायणादिभि र्यथाक्रमं साधारणाः। श्रीकृष्णस्य त्वेषां लक्षणानि भेदा उदाहरणानि द्रष्टव्यान्याकरे [भ,र,सि,दक्षिण,विभाव १।११-११७] ॥११॥

तत्र 'स्वयन्त्वसाम्यातिशय' (भा०—३।२।२१) इत्यस्योत्तरार्द्धमीश्वरत्वस्योदाहरणं, पूर्वार्द्धन्तु निरतिशयैश्वर्य्यस्येत्युभयत्रोदाहृतमाकरे (रसामृते दक्षिण १।६६)। 'पराभवं फेनिल-वक्त्रताञ्च बन्धञ्च

अपर पाँच गुण नारायण एवं महापुरुषादि में वर्त्तमान हैं—१। अविचिन्त्य महाशक्ति, २। कोटिब्रह्माण्डविग्रह, ३। अवतारावलि-बीज, ४। हतारि गतिदायक, ५। आत्माराम-गणाकर्षी। यह पाँच गुण श्रीनारायण प्रभृति में रहने पर भी श्रीकृष्ण में अद्भुत रूप में विराजमान हैं। ये ६० गुण क्रम से इन्द्रादि जीव, श्रीरुद्र, श्रीनारायण प्रभृति के साथ समभाव से रहते हैं। श्रीकृष्ण विषय में उस सब के लक्षण उदाहरण विभेद प्रभृति रसामृत में द्रष्टव्य हैं॥११

भक्तिरसामृतसिन्धु में ईश्वरत्व (५०) गुणों के उदाहरण स्वरूप में श्रीमद्भागवत के ३।२।२१ श्लोक उद्धृत हुआ है, स्वयन्त्वसाम्यातिशय इत्यादि। इस का अर्थ—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनके समान, प्रधान कोई नहीं है, आप त्र्यधीश, अर्थात् ब्रह्मादि गुणाधिष्ठात्रा देवत्रय का, महत्स्रष्टा महाविष्णु प्रभृति पुरुषत्रय का अथवा गोलोकादि धामत्रय के अधीश्वर हैं, आप स्वयं विराजमान अनन्यापेक्षी स्वरूप होने के कारण स्वाराज्य लक्ष्मी द्वारा निषेवित हैं, सुतरां निखिल भोगैश्वर्य प्राप्त किये हैं। निखिल लोकपालवर्ग पूजोपहार सह उनके पादपीठ में मस्तक रखकर उन की वन्दना करते हैं। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध इस प्रकार है, (निखिल लोकपाल द्वारा निषेवितत्व) उनका ईश्वरत्व का उदाहरण एवं पूर्वार्द्ध

भीतिश्च मृतिश्च कृत्वा। पवर्गदातापि शिखण्डमौले ! त्वं शात्रवाणामपवर्गदोऽसी'त्यादिकन्तु (७३) हतारिगतिदायकत्वस्याद्भुतत्वे एवोदाहरणं ; ततश्च "मुक्तिदाता हतारीणां हतारिगतिदायक' इति विशेषलक्षणमेव, सामान्यलक्षणन्तु हतारीणां प्रकृष्टफलदाता यः स हतारिगतिदायक इति। प्रकृष्टं फलं च द्विविधं अभ्युदयोऽपवर्गश्चेति, उभयत्र गतिशब्द-प्रयोगदर्शनात् ; तत्रान्येषामुभयदातृत्वमेव हतारिगतिदायकत्वं, श्रीकृष्णस्य त्वपवर्गदातृत्वं, तदेवाद्भुत-त्वमिति। अन्यथा (लघु) भागवतामृतं (१।१५२) विरुध्येत ; तथाहि—अयं हि भगवान् कीर्त्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरादि दुर्लभं

निरतिशय ऐश्वर्यवत्त्व का उदाहरण है, सुतरां रसामृत में (१।६६) ईश्वरत्व एवं निरतिशय ऐश्वर्यवत्त्व उभय का ही उदाहरण स्वरूप में उक्त श्लोक उद्धृत हुआ है। और हे शिखिपुच्छचूड़ ! आप शत्रु गण के प्रति पराभव (प) फेनिल वदन (फ) बन्धन (ब) भय (भ) एवं मृत्यु (म) विधान करके पवर्ग प्रदान करने पर भी उस को अपवर्ग भी प्रदान करते हैं। यह श्लोक,—हतारिगतिदायकत्व अद्भुतत्त्व का ही उदाहरण है। अतः मूल में जो कहा गया है—जो शत्रुगण को मारकर मुक्ति प्रदान करते हैं, उन को हतारिगतिदायक कहते हैं। यह वाकच विशेष लक्षण है, सामान्य लक्षण यह है,—जो निहत शत्रुगण को प्रकृष्ट फल दान करते हैं, वह ही हतारिगतिदायक हैं। प्रकृष्ट फल दो प्रकार हैं—अभ्युदय एवं अपवर्ग, कारण उभय अर्थ में ही गति शब्द का प्रयोग होता है। अन्यान्य अवतारगण उभय का दान नहीं करते हैं,अतः वे सब हतारिगतिदायक हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अपवर्ग प्रदान करके ही हतारिगतिदायक हैं। अपवर्ग प्रदान भी अद्भुत रूप से होता है, कारण आप स्वरूप जागरण रूप अपवर्ग मुक्ति दान करते हैं। यदि श्रीकृष्ण अद्भुत अपवर्ग दाता न होंगे, तो लघुभागवतामृत का कथन विरुद्ध होगा। प्रसङ्ग इस प्रकार है—शिशुपाल विद्वष बुद्धि से भगवन्नाम ग्रहण एवं रूपादि का चिन्तन द्वारा अपराध क्षीण होने से अन्त समय में

फलं प्रयच्छतीत्यत्र विष्णुपुराणीयपद्ये भागवतामृतीयाः कारिकाः (१।१५७)—"इत्युक्त्वाप्यत्र वक्त्रयादेर्मोक्षमप्यर्भलीलया। अमोक्षं कालनेम्यादेरन्यत्रापीशचेष्टया। मुनिः स्मृत्वा पुनः प्राख्यदयं हि भगवानिति। हि प्रसिद्धमयं कृष्णो भगवान् स्वयमेव यत्। प्रीणतां द्विषतां चातश्चेतांस्याकर्षति द्रुतं॥ तस्मात् कीर्त्तित इत्यादि माहात्म्यं चित्रमत्र नेति" तत्रैवाग्रे (१।१६१)। किञ्चासुराणां द्विषतां कृष्णमप्राप्य नान्यतः। कुतोऽपि मुक्तिरित्याख्यदेवकार-द्वयेन सः॥ इत्यवतार्य्य "तानहं द्विषतः" इति गीतापद्यं (१६।१९-२०) व्याख्यातं।

श्रीभगवान् का साक्षात्कार प्राप्तकर भगवत् सामीप्य एवं सायुज्य लाभ किया। सुतरां यह श्रीकृष्णाख्य स्वयं भगवान् की ऐसी अचिन्त्य महिमा है कि—उनका स्मरण कीर्त्तन शत्रु भाव से करने से भी निखिल सुरासुरादि दुर्लभ परमफल लाभ होता है, भक्तिभाव से स्मरण कीर्त्तन का फल तो कथनातीत है। विष्णुपुराणीय पद्य से श्रीलघुभागवतामृत की कारिका (१५७-१६१) रचित हुई है, वह इस प्रकार है—स्वयंरूप श्रीकृष्ण में मोक्षदातृत्व शक्ति की अभिव्यक्ति सर्वदा होने के कारण विद्वेषावेश से भी श्रीकृष्ण से निहत होकर शिशुपाल मुक्त हो गया, इस प्रकार सूचित करके भी श्रीकृष्ण के बाल्यावेश में पूतनादि का मोक्ष एवं अन्यावतार में ऐश्वरिक चेष्टा से भी कालनेमि प्रभृति का मोक्षाभाव का स्मरण करके पुनर्वार श्रीपराशर मुनि ने 'अयं हि भगवान्'—इह उपदेश किया है। गद्यस्थ 'हि' शब्द से प्रसिद्धता का बोध होता है, कारण यह श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् नाम से ही प्रसिद्ध हैं, अतएव आप झटिति भक्त एवं विद्वेष कारियों के चित्ताकर्षण करते हैं। अतएव विद्वेष के समय भी श्रीकृष्ण को आह्वान कर उनका नाम कीर्त्तन से उत्तम गति लाभ होता है, इस में आश्चर्य की बात कुछ भी नहीं है। तत्पश्चात् पुनर्बार (१६१) कारिका में उक्त है, 'भगवद् विद्वेष्टा' असुरगण कृष्णभिन्न अन्य (श्रीनृसिंह, श्रीरामादि) स्वरूप से मुक्त नहीं होते हैं, यह संवाद आपने अर्जुन को गीता में 'आसुरीष्वेव' एवं 'माम-

एतेन हतारिगतिदायकत्वस्य श्रीकृष्णेऽद्भुतत्वं भक्तिदायकत्वञ्च, 'अहो बकी यं स्तनकालकूटम्' इति (भा० ३।२।२३) वचनात् इति-वादिनः परास्ताः ॥१२॥

अथ तस्य असाधारणा श्चत्वारो गुणाः—(दक्षिण १।३५)

लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्य्यं वेणुरूपयोः ।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम् ॥

तत्र लीला यथा पाद्मे—"चरितं कृष्णदेवस्य सर्वमेवाद्भुतं भवेत् । गोपलीला च तत्रापि सर्वतोऽतिमनोहरा ॥" वृहद्वामने च—"सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीला स्तास्ता मनोहराः । नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृश भवेत् ॥ प्रेम्ना प्रियाधिक्यं यथा श्रीदशमे (३१।१५)—"अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् । कुटिल-

---

प्राप्यैव' यह दो 'एव' कार द्वारा कहा है । गीता के श्लोकद्वय का अर्थ यह है—मैं मेरे प्रति विद्वेषी, क्रूर, अशुभ नराधम गण को इस संसार में आसुरी योनि में निरन्तर डालता रहता हूँ । प्रति जन्म में मूढ़ व्यक्तिगण मुझको न पाकर क्रमशः अधम योनि को प्राप्त करते हैं । इस से यह प्रतिपन्न हुआ कि हतारिगतिदायकत्व गुण अन्य भगवत् स्वरूप में रहने पर भी श्रीकृष्ण में वह अद्भुतत्व एवं भक्ति दायकत्व रूप में ही प्रकटित है । कारण श्रीमद्भागवत में उक्त है,—अहो ! कृष्ण की कृपालुता ! दुष्ट पूतना उनकी हत्या करने के लिए गई थी और विष मिश्रित स्तन प्रदान करके भी धात्री गति को प्राप्त किया, सुतरां इस से विरुद्ध मत का खण्डन हुआ ॥१२॥

सम्प्रति श्रीकृष्ण के असाधारण गुणचतुष्टय का निरूपण करते हैं—(१) लीला-माधुरी, (२) प्रेम-माधुरी (प्रियजन के द्वारा विराजमानता), (३) वेणु-माधुरी, (४) रूप-माधुरी । (१) **लीला**—श्रीकृष्ण के सब चरित्र ही अद्भुत है । उस में गोपलीला सर्वातिशायी मनोहर है, यह पद्मपुराणीय वचन है । वृहद्वामन में—यद्यपि मेरी लीला मनोरम ही है—तथापि रासलीला का स्मरण से मन में जो भाव उठता है, उसको मैं नहीं कह सकता । (२) **प्रेममाधुरी**—(भा०

कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥" वेणुमाधुर्य्यं यथा तत्रैव (१०।३५।१५)—"सवनश स्तदुपधार्य्य सुरेशाः शक्रशर्व-परमेष्ठिपुरोगाः। कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चित-तत्त्वाः ॥" रूपमाधुर्य्यं यथा तत्रैव (१०।२९।४०)—"का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहितार्य्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्यां। त्रैलोक्य-सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥" इति ॥१३॥

व्रजेऽपि स्वाभाविकप्रकाशाद्दासाभिमानिनां सम्बन्धे तस्य प्रकाशातिशयं पर्य्यालोच्य गोविन्दस्य चरण कमलयोः प्रेमसेवा

१०।३१।१५) हे प्रियतम ! दिवस में जब तुम गोचारण हेतु बन में पर्यटन करते हो, तब तुम्हें न देखकर प्राणिगण के क्षणार्द्ध काल भी युगवत् सुदीर्घ प्रतिभात होता है। और जब तुम्हारा दर्शन होता है, तब तुम्हारे वक्र कुन्तल सुन्दर वदन को अवलोकन कर निमेष का व्यवधान भी असह्य बोध होता है, इस से वे सब चक्षु में पलक सृजनकारी विधाता को जड़ (अविवेचक) मानते हैं। (३) **वेणुमाधुरी** (भा० १०।३५।१५) हे सति यशोदे ! तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण, स्वरजाति प्रभृति को उन्नयन कर वेणुवादन करने से स्वयं कवि अथवा संगीतज्ञ होकर भी इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मादि देवगण, मन्द्र, मध्य एवं तार भेद युक्त उस स्वरालाप को सुनकर अवनत मस्तक एवं पुलकित हृदय से उस का स्वरूप निर्णय में असमर्थ होकर विमुग्ध होते हैं। (४) **रूप-माधुरी**—(भा० १०।२९।४०) हे कृष्ण ! इस त्रिभुवन में कौन नारी है, जो तुम्हारी कलपद (मधुर अस्फुटध्वनि) सम्वलित दीर्घ मूर्च्छित (स्वरालाप) युक्त वेणुगान से विमोहित होकर एवं त्रैलोक्य सूचक यह रूप दर्शन कर पातिव्रत्य में तिलाञ्जलि नहीं देती है ? कारण वह गीत एवं रूप श्रवण दर्शन से गो, मृग, पक्षी, वृक्षगण भी पुल-काञ्चित होते हैं ॥१३॥

और भी व्रजमें उनका स्वाभाविक प्रकाश से भी दास्यरसाभिमानी भक्तों के सम्बन्ध में प्रकाशातिशय्य की पर्य्यालोचना करके गोविन्दके

साध्येति नोक्तं । तच्च तादृक्प्रकाशविशेषानुभविनो ब्रह्मणः प्रार्थनातोऽवगम्यते । तद् यथा—श्रीदशमे (१४-३०) 'तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् । येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥" इति । अत्र हि वत्सपालान्वेषणसमये दृष्टस्यैकाकिन स्तस्य स्वाभाविक-प्रकाशात् स्तुति-समये परिचरतां दासानां संसर्गे प्रकाशाधिक्यं दृष्ट्वा भवज्जनानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेव इत्युक्तं, अन्यथा तव पादपल्लवं निषेव इत्येवन्मात्रमुक्तं स्यात् । अनुभव-सिद्धश्चैतत्—यथा कश्चिद् राजा राजपुत्रो वा यदा कदाचिल्लोक-तत्त्व-जिज्ञासार्थमेकाकी पर्य्यटति; यदा च स्वस्थानस्थितो दासादिभिः परिचर्य्यमाणो भवति, तदा स एवान्य इवावभाति । ननु "तावत्

चरणकमल की प्रेमसेवा ही साध्य है—मूल श्लोक में यह भी नहीं कहा गया है। दासगण के निकट श्रीकृष्ण के प्रकाशातिशय के सम्बन्ध में उक्त प्रकाश का अनुभवकारी ब्रह्मा की प्रार्थना ही प्रमाण है, (भा० १०।१४।३०) कारण तुम्हारे चरणकमल की कृपा को छोड़ कर कोई भी तुम्हारे तत्त्व को जान नहीं सकता। सुतरां हे नाथ ! इस ब्रह्म जन्म में किम्वा अन्य किसी पशु-पक्षि जन्म में मेरा वह भाग्योदय हो, जिस से मैं तुम्हारे भक्तगण के मध्य में कोई एक होकर एक (निकृष्ट) देह से तुम्हारे पदपल्लव की सेवा कर सकूँ। यहाँपर वत्सपालान्वेषण के समय ब्रह्मा दृष्ट एकाकी कृष्ण के स्वाभाविक प्रकाश से भी स्तुति के समय में परिचर्यारत दासगण के साथ विराजमान श्रीकृष्ण का प्रकाशातिरेक का दर्शन किए थे, एवं ब्रह्मा ने प्रार्थना की,—तुम्हारे दासगण के मध्य में किसी प्रकार एक व्यक्ति होकर जिस प्रकार तुम्हारे चरण की सेवा प्राप्त करूँ। अन्यथा (दासगण के सङ्ग में प्रकाशाधिक्य को न देखने से) तुम्हारे पादपद्म की सेवा करेंगे, ऐसा कहते। यह तो अनुभव सिद्ध भी है, जिस प्रकार कोई राजा अथवा राजपुत्र लोकतत्त्व को जानने के लिए कभी एकाकी भ्रमण करते हैं, और जब आप निज राजप्रासाद

सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् । व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ।।" (१०।१३।४६) इत्याद्यैश्चायमपि पञ्चमो गुणः कथं साधारणः स्यादिति चेन्न,तस्य श्रीनारायणादिसाधारणगुणस्याविचिन्त्यमहाशक्त्याख्यस्य दिव्यस्वर्गादिकर्त्तृत्वलक्षणभेदविशेषत्वात् । तथाहि 'तावत् सर्वे वत्सपालाः' इत्यादिकं संगृह्य तत्रैवोदाहृतमाकरे [भ, र, सि, दक्षिण १।७१] – "आसीच्छायाद्वितीयः प्रथममथ विभुर्वत्सडिम्भानशेषान् । स्वांशांशेनाशु कृत्वा परमपुरुषतायोग्यरूपाननूंश्च । भुवः कलृप्तैः सतत्त्वैः सगणविधिगणैरप्यजाण्डरखण्डैः प्रत्येकं सेव्यमानानकृत लघुतरं यः प्रपद्ये तमीशम् ।।" इति ।।१४।।

में उपविष्ट होकर भृत्यगण के द्वारा सेवित होते हैं, तब पूर्वावस्थ राजा अथवा राजकुमार से अन्यवत् प्रतिभात होते हैं ।

आशङ्का—ब्रह्मा किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर जब चिन्ता कर रहे थे, तब ही कृष्णस्वरूपभूत वत्सगण एवं बालक सकल को देखने वाले ब्रह्मा को अनादर करके मेघश्यामल पीतवसनधारी रूप में ब्रह्मा के दृष्टि पथ में प्रतिफलित हुए। इत्यादि वाक्य में (बहु मूर्त्ति में युगपत् वर्त्तमानता रूप) यह गुण पञ्चम असाधारण रूप में क्यों नहीं गृहीत् होगा ? एवं साधारण रूप से गृहीत क्यों हुआ है ? **उत्तर**—इस प्रकार कह नहीं सकते, कारण "अविचिन्त्यमहाशक्ति" नामक जो गुण श्रीनारायणादि के साथ साधारण रूप में उक्त है, उस का अवान्तर भेद विशेष रूप से यह दिव्य स्वर्गादि कर्त्तृत्व का लक्षण कहा गया है। पुर्वोक्त 'तावत्' सर्वे वत्सपालाः इस श्लोक का सार संग्रह करके ही रसामृतसिन्धु में उदाहरण वाक्य प्रस्तुत करते हैं। नरलीला प्रयुक्त श्रीकृष्ण प्रथमतः एकाकी थे, तत्पश्चात् शीघ्र ही निज अंशांश में निखिल वत्स बालकादि की रचना की, एवं पुनर्बार उक्त वत्स बालक समूह को पुरुषोचित चतुर्भुज किये थे। पुनर्बार स्वयंकृत तत्त्वादि सपरिकर ब्रह्मादि देवगण एवं अखण्ड ब्रह्माण्डगण के द्वारा प्रत्येक को सेवित किये, उस ईश्वर कृष्ण की ही मैं शरण लेता हूँ ।।१४।।

एवं सत्यपि दासापेक्षया सखीनां प्रेमाधिक्यात् तत्सम्पर्केण च तस्य प्रकाशाधिक्याद् ब्रजभृत्यसेव्यस्य चरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नोक्तं। तद् यथा श्रीदशम (१२।११) एव—"इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन। मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥" इति–अत्र 'दास्यं गतानां परदैवतेन' इत्यनेन दासानां सम्भ्रमात्मिका प्रीतिरुक्ता। व्रजसम्बन्धिदासानां पारमेश्वरज्ञानाभावेऽपि व्रजेश्वर-नन्दनन्दनतया प्रभुताज्ञानमस्त्येव। 'सार्द्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः' इत्यनेन 'उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः' (१०।१८।२४) इत्यादिना च सखीनामयन्त्रणात्मिका प्रीतिरुक्ता। तच्चायन्त्रणा प्रीते वैशिष्टंच विना न घटते, वर्णितश्च प्रेमविशेष स्तेषां श्रीशुकेन यथा—"कृष्णं महावकग्रस्तं

स्वाभाविक प्रकाश की अपेक्षा से दासगण सेवित श्रीकृष्ण के प्रकाशातिशय्य सिद्ध होने पर भी एवं दासगण से भी सखागण के प्रेमाधिकच हेतु एवं उनके संसर्ग से श्रीकृष्ण का भी प्रकाशाधिकच के कारण व्रजभृत्यसेव्य श्रीकृष्ण के चरणकमल की प्रेमसेवा साध्या —इस प्रकार उक्ति नहीं हुई है। (भा० १०।१२।११) उक्त विषय में प्रमाण—श्रीकृष्ण के साथ विविध क्रीड़ा परायण, अतएव महासुकृतिशाली गोपबालकगण—ज्ञानिगण के निकट ब्रह्मसुखानुभव स्वरूप, दास्य रसिक भक्तगण के निकट परदेवता स्वरूप एवं मायाश्रित कर्मनिष्ठ व्यक्तिगण के निकट नरबालक रूप में प्रतिभात होते हैं एवं श्रीकृष्ण के साथ विहार करने लगे। इस श्लोक में दास्याश्रित भक्तगण के परदेवता शब्द से दासगण की सम्भ्रमात्मिका गौरवमयी प्रीति उक्त है, व्रज के दासगण के परमेश्वरत्व ज्ञान न रहने पर भी किन्तु व्रजेश्वर महाराज के पुत्र श्रीकृष्ण में उन सब की प्रभुता ज्ञान है, "वह सुकृतिशाली गोपबालकगण उनके साथ विहार किए थे।" "भगवान् कृष्ण,—खेल में पराजित होकर श्रीदाम को कंधे पर लेकर ढाये थे।" इत्यादि वचन से बोध होता है कि—सखाओं की प्रीति में सङ्कोच बुद्धि नहीं है, यह सङ्कोच बुद्धि राहित्य प्रीति का

दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः। बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः॥"
(१०।११।४६) इत्यादौ। तत्सम्पर्केण तत्प्रकाशाधिक्यं यथा तत्रैव
(१०।१३।११)—"बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥"

तथा—"श्यामं हिरण्यपरिधिं बनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥"

विशेषत्व के बिना सम्भव न नहीं है। श्रीशुकदेव ने भी उन सब के प्रेमविशेष की वर्णना की है, यथा—(१०।११।४६) रामादि गोप-बालकगण कृष्ण को महाबकग्रस्त देखकर तत्क्षणात् उस को विनष्ट करने में समर्थ होने पर भी एवं श्रीकृष्ण का किसी प्रकार अनिष्ट नहीं होगा, जानकर भी अतुल सख्यावेश में व्याकुलता प्रयुक्त सर्व ज्ञान-क्रिया-शक्ति को खोकर प्राण के अभाव से इन्द्रियगण की निश्चेष्टता के समान अचेतन हो गए। गोपगण के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का प्रकाशाधिक्य—यथा (१०।१३।११) सर्वज्ञ भोक्ता (अथवा जिन्होंने किसी यज्ञ को स्वीकार ही नहीं किया है) श्रीकृष्ण लौकिक बालक की भाँति बाल्यलीला के आवेश से मध्य में उपविष्ट होकर भोजन करते समय उदर एवं परिधेय वसन के बीच में वेणु को रखकर, शिङ्गा एवं वेत्र को वाम कक्ष में रखकर, वाम हस्त में दधि मिश्रित अन्न का ग्रास धारण कर, अङ्गुलियों की सन्धि में आचारादि को रखकर अपने चारों ओर मण्डलाकार में उपविष्ट वयस्यों को विविध परिहास वाक्य से हँसाते रहते हैं। तब देवता-गण विस्मित होकर उस लीला को देखने लगे। (१०।१३।२२) गोपगण द्वारा परिवृत श्रीकृष्ण की प्रकाश माधुरी—"उनका विग्रह श्यामवर्ण, परिधान में पीतवसन, बनमाला, मयूर पुच्छ गैरिकादि

(१०।२३।२२) इति आत्मारामेणापि मुनिना साश्चर्य्यं वर्णितत्वात् पूर्वोक्तप्रकाशादस्य मनोहरत्वं गम्यते ॥१५॥

सखिभ्योऽपि गुरूणां प्रेमातिरेकात् तत्सम्बन्धेन तस्य पूर्वोक्त-प्रकाशाधिक्यमालोच्य व्रजवयस्यगोष्ठी-विभूषणस्य चरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नोक्तं। तद् यथा तत्रैव (१०।९।१८) "स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकवररुजः। दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने ॥" अत्र हि बन्धन-क्रियया व्रजेश्वर्य्या अनुकम्पिकात्वं श्रीकृष्णस्य चानुकम्प्यत्वं ज्ञाप्यते। तच्च ममतातिशयं विना न घटेतेति। पूर्वत्र तु 'सार्द्धं विजह्रु'रित्यादावुभयोः समत्यैवोपलभ्यत।

धातु प्रवाल (पल्लव) समूह के धारण से नटवत् वेश; आप पार्श्व-वर्त्ती किसी वयस्य के स्कन्ध में वाम हस्त स्थापन कर, दक्षिण हस्त से लीलाकमल को घूमा रहें हैं। उनके कर्णद्वय में उत्पल, कपोल द्वय में अलकावली, एवं मुखकमल में मृदुमन्द हास्य विराजित है। यह सब श्लोक, आत्माराम मुनि श्रीशुकदेव के द्वारा आश्चर्य भावसे वर्णित होने के कारण कहना पड़ेगा कि पूर्वोक्त दास्यरसाश्रित भक्त सान्निध्य के प्रकाश से भी सख्यरसाश्रित भक्तगण के समीप का प्रकाश ही समधिकमनोहरण करता है ॥१५॥

सखागण से भी मातापिता प्रभृति गुरुजन के प्रेमातिशय वशतः उनके सम्बन्ध से श्रीकृष्ण का पूर्वोक्त सख्यरसमय प्रकाश की पर्यालोचना से व्रजवयस्यगोष्ठी विभूषण कृष्ण के चरण कमल की प्रेमसेवा साध्या, यह उक्ति भी मूल में नहीं है। गुरुगण के प्रेमातिशय के विषय में प्रमाण यथा-(१०।९।१८) 'जननी का कलेवर स्वेदयुक्त, केशबन्धन स्खलितमाल्य, एवं उनको महापरिश्रान्त देखकर कृपा-वशतः श्रीकृष्ण स्वयं बन्धन ग्रहण किये थे। इस दाम-बन्धन लीला में व्रजेश्वरी को अनुकम्पिका (कृपाकारिणी) एवं श्रीकृष्ण को अनुकम्प्य-(दयापात्र) रूप में प्रकाश किया गया है। यह अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव भी ममताधिक्य को छोड़कर हो नहीं सकता है। पूर्वत्र सख्यरस में परस्पर क्रीड़ादि में उभय की समता उपपन्न है,

अतो ममताधिक्यात् प्रेमाधिक्यं स्पष्टमेव। अतएव श्रीशुकेनापि तस्या माहात्म्यं सचमत्कारमेव वर्णितं यथा (१०।६।२०)—"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया। प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥" राज्ञापि तथैव पृष्टं (१०।८।४६-४७) "नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एव महोदयं। यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥" पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितं। गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥" इति; तत्सम्बन्धेन तस्य प्रकाशविशेषो यथा तत्रैव (१०।६।११) "कृतागसन्तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्त मञ्जन्मषिणी स्वपाणिना। उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भीषयन्त्यवागुरत्॥" अवागुरत् अभर्त्सयत्। अस्यैव

किन्तु इस स्थल में ममताधिक्य वशतः प्रेमाधिक्य ही सुस्पष्ट सिद्ध है। श्रीशुकदेव ने भी इस हेतु मा यशोदा का माहात्म्य की वर्णना चमत्कृत होकर ही की है। (१०।६।२०) किसी को मुक्ति, किसी को वैकुण्ठादि लोक प्रापणरूप विमुक्ति-दानकारी श्रीकृष्ण से गोपी यशोदा जो प्रसाद लाभ किये हैं, वह पुत्र ब्रह्मा, आत्मस्वरूप शिव, एवं नित्य वक्षोविलासिनी लक्ष्मी भी लाभ करने में असमर्थ हैं। राजा परीक्षित् ने भी चमत्कृत होकर ही जिज्ञासा की—(१०।८।४६) गोपराज नन्द, महापुण्यजनक ऐसा कौन मङ्गल कार्य किए हैं, जिस से आपने श्रीकृष्ण को पुत्ररूप में प्राप्त किया? और महा भाग्यवती यशोदा भी क्या पुण्यानुष्ठान किये हैं जिससे श्रीकृष्ण पुत्र होकर स्तन्य पान किए? (४७) श्रोतागण के एवं वक्तागण के निखिल कलमष नाशन श्रीकृष्ण की जो उदारा बाल्यलीला, जिसका गान अद्यापि भी कविगण करते रहते हैं, जिसका अनुभव पिता वसुदेव, माता देवकी ने भी नहीं किया है, उस बाल्य लीला का आस्वादन उन्होंने किस पुण्य से किया है? वात्सल्य रसाश्रित भक्त संस्पर्श से उनका प्रकाश विशेष है। यथा (१०।६।११)—कृतापराध श्रीकृष्ण क्रन्दन करते करते निज हस्तद्वय द्वारा नेत्रद्वय को मर्दन किए, इससे नेत्रस्थ कज्ज्वल विगलित हुआ, यशोदा पुत्र को भय

प्रकाशस्यानुवादो यथा कुन्तीस्तुतौ (१।८।३१) गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्। वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति।। इति—अत्र 'भयविह्वलाक्षम्' इत्यनेन 'भयभावनया' इत्यनेन च भयस्य वास्तवत्वमुक्तं। तेनात्यन्तलीलावेशात् पूर्वस्मात् प्रकाशादस्य प्रकाशातिमनोहरत्वं गम्यते। ननु 'ततो वत्सानदृष्ट्वेत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्। उभावपि बने कृष्णो विचिकाय समन्ततः।।'(१०।१३।१६) इत्यादौ पूर्वत्रापि लीलावेशो दृश्यते; सत्यं, लीलावेश स्तत्र नास्तीति को मूर्खो ब्रूते, अपितु 'भयभावनया' इतिवत् तत्र मानसावेशस्याश्रवणादावेशतारतम्यं ब्रूमः।।१६।।

विह्वल नेत्र एवं ऊर्द्धदृष्टि सम्पन्न देखकर हस्त धारण पूर्वक भयोत्पादन करके तिरस्कार करने लगी। इस प्रकाश का ही अनुवाद स्वरूप में कुन्तीदेवी भी बोली,—(१।८।३१) हे कृष्ण! दधिभाण्ड को फोड़कर अपराध करने पर गोपी यशोदा तुम्हें बन्धन के लिए जब रस्सी ले आई, तब तुम्हारी जो दशा हुई थी, उसे स्मरण कर मैं विमोहित हो जाती हूँ। मा को देखकर तुम्हारे लोचन भय से व्याकुल थे एवं नयन के कज्ज्वल अश्रुधाराके साथ मिल गया था, जो भय तुम से भीत होता है, तुम भी उस भय की भावना से अधोवदन होकर रह गए थे। पूर्व श्लोक में 'भय विह्वलाक्ष' एवं इस श्लोक में 'भय भावना' इन दोनों शब्द से भय की वास्तविकता प्रमाणित हुई है, उस में भी अत्यन्त लीलावेश वशतः पूर्व सख्यरसाश्रित प्रकाश से भी अत्रत्य वात्सल्य रस का प्रकाश अतिमनोहर है। **आशङ्का**—(१०।१३।१६) के अनन्तर श्रीकृष्ण पर्वतादि अनेक स्थानों में गोवत्सगण को न देखकर एवं पुलिन में आकर गोपाल बालकों को न देखकर समग्र बन में वत्स एवं बालकों को ढूँढ़ने लगे। इस उक्ति से पूर्वत्र (सख्यरस में) लीलावेश उत्तम दृष्ट होता है, तब केवल वात्सल्य में ही लीलावेश है, यह बात कैसे उठी? **उत्तर**—सत्य ही है, सख्यरस में लीलावेश नहीं है—यह

इतोऽपि मधुररसे तस्य लीलावेशातिरेको दृश्यते। यथा श्रीविष्णुपुराणे—'गोपी-कपोल-संश्लेषमभिपद्य हरे र्भुजौ। पुलकोद्गमशस्याय स्वेदाम्वुघनतां ययौ।' इति। अत्र हि सात्त्विकाभाववर्णनादत्यन्तावेशो गम्यते। एतादृशादपि गुरुवर्गाद् गोपीनां प्रेमातिशयमालक्ष्य तत्सम्बन्धेन तस्य च प्रकाशातिशयं पर्य्यालोच्य यशोदानन्दनस्य चरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नोक्तं। तत्र तासां प्रेमातिशयः स्वमुखेनैव वर्णितः श्रीभगवता यथा श्रीदशमे (३२।२२)—'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहश्शृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥' इत्यादौ

बात कौन मूर्ख कहता है? किन्तु 'भयभावनादि' में जिस प्रकार मानस आवेश दृष्ट होता है, तद्रूप आवेश पूर्वस्थल में शुनने में नहीं आया है। सुतरां उभय स्थलमें आवेश का तारतम्य सिद्ध हुआ॥१६

वात्सल्य रस से भी मधुर रस में श्रीकृष्ण की लीलावेशातिरेक देखने में आता है। प्रमाण (विष्णुपुराण में) गोपी के गण्डदेश को स्पर्श कर श्रीहरि के भुजद्वय में पुलकोद्गमरूपशस्यवृद्धि हेतु स्वेदजलरूप मेघत्व प्राप्त हुआ, अर्थात् श्रीहरि पुलकाश्रुभूषित हो गये। इस श्लोक में सात्त्विक भाव की वर्णना होने से अत्यन्त आवेश सुस्पष्ट हुआ। इस प्रकार (अनुग्राह्य-अनुग्राहक भावमय) गुरुवर्ग से भी गोपीयों के प्रेमातिशय्य की विवेचना करके एवं उन सब के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का भी प्रकाशातिशय की पर्यालोचना पूर्वक यशोदानन्दन के चरणकमल की प्रेमसेवा साध्या यह कथा नहीं कही गई है। गोपियों के प्रेमातिशय्य की वर्णना श्रीभगवान् निज मुख से ही किए हैं, यथा (१०।३२।२२)—हे गोपीगण! मेरे साथ तुम्हारे जो प्रेममय संयोग है, जिस के लिए तुम सबों ने दुर्जर दुश्छेद्य गृहश्शृङ्खल ऐहिक पारत्रिक यावतीय लोकधर्म मर्यादा को उल्लङ्घन कर मेरा भजन किया, उसका प्रतिदान हेतु यदि मुझे देव-परिमित आयुष्काल भी मिले तो भी उसका एकविन्दु भर भी शोध मैं नहीं कर सकूँगा, अतएव तुम्हारे साधुकृत्य के द्वारा ही उसका

बहुत्र; तत्सम्बन्धेन श्रीकृष्णप्रकातिशयो यथा तत्रैव (१०।३२।१४) 'चकास गोपी-परिषद्गतोऽर्च्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्मैकपदं वपुर्दधत्।' इति 'तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः' (१०।३३।६) इति च तास्वपि श्रीराधिकायाः प्रेमातिरेकं तत्सम्बन्धेन च तस्य शोभातिरेकमनुभूय गोपीकान्तचरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति नाभ्यधायि। तत्र तस्याः प्रेमातिरेकं यथा वासनाभाष्यधृताग्नेयवचने—'गोप्यः पप्रच्छुरुषसि कृष्णानुचरमुद्धवं। हरिलीला-विहारांश्च तत्रैकां राधिकां विना। राधा तद्भाव-संलीना वासनाया विरामिता॥' इति तस्या हृदि स्थिता। या प्रश्नादि-वासना तस्याः सकाशाद् विरामिता विरतेत्यर्थः। मूर्च्छां प्राप्तत्वात् प्रश्नादावसमर्था जातेत्यर्थः। तत्सम्बन्धेन तस्य प्रकाशातिशयो यथा ऋक्परिशिष्टीयश्रुतौ—'राधया

विनिमय हो, मैं तुम्हारे प्रेम का ऋणी रह गया। इस प्रकार अनेक स्थलों में गोपियों की प्रेममहिमा मुक्तकण्ठ से सङ्गीत हुई है। गोपी सम्बन्ध में उनका भी प्रकाशातिशय यथा—(१०।३२।१४) त्रैलोक्य लक्ष्मी का (प्राकृत-अप्राकृत निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड की यावतीय शोभा सम्पत्ति की एकमात्र तनु धारण कर गोपी सभा के आसन में उपवेशन पूर्वक व्रजाङ्गनागणों से परिवृत होकर भी उन सबके द्वारा सम्मानित होकर ही उन्होंने शोभा का विस्तार किया। (१०।३३।६) व्रजसुन्दरीगण के द्वारा परिवेष्टित देवकी (यशोदा)-नन्दन श्रीकृष्ण उस रासस्थली में अतिशय शोभित हुए थे। और गोपीगण के मध्य में भी श्रीराधिका के प्रेमातिशय्य एवं उनके संस्पर्श से श्रीकृष्ण की सर्वातिशायि शोभातिरेक का अनुभव करके ही गोस्वामीपाद ने गोपीकान्त के चरणकमल की प्रेमसेवा ही साध्य है, यह बात नहीं कही है। श्रीराधा का प्रेमातिशय्य के विषय में वासनाभाष्य धृत अग्निपुराणस्थ वचन ही प्रमाण है, एकमात्र राधा व्यतीत अन्यान्य गोपीगण कृष्णदूत उद्धव को हरिलीला विहारादि के प्रसङ्ग में पुछी थीं। राधा किन्तु तद्भाव में संलीना होकर प्रश्नादि वासना से विरता हो गई थी, अर्थात् मूर्च्छित होने से

भ्राजते देवो माधवेनैव राधिका' इति । एवकारस्य प्रत्येकं सम्बन्धः, ततश्च 'राधयैव भ्राजते' इत्यन्ययोगव्यवच्छेद आयातमस्य प्रकाशस्य निरतिशयत्वं ॥१७॥

दास्यरत्यादिषु यथोत्तर-श्रेष्ठत्वे युक्तयश्च यथा—दास्यरत्यनुभावरूपा बीजनताम्बुलार्पणाद्या दास्यक्रियाः सख्यरत्यनुभावतया सखिषु लभ्यन्ते। युद्धे निर्जितीकरणं वस्त्रे धृत्वाकर्षणं हस्ताहस्ति प्रसङ्गादि सखिक्रियास्तु दास्येषु नोपलभ्यन्ते। अतो दास्यरतिक्रियाणां सख्यरतौ सद्भावात् सख्यरतिक्रियाणां च दास्यरतावसद्भावात्तदपेक्षया सख्यरतिः श्रेष्ठा। एवं दास्यसख्यरत्योः क्रिया वत्सलरतावुपलभ्यन्ते,तत्सुखेऽप्यनिष्टशङ्कन-हिताहितोपदष्टृत्वभोजनपानेत्याद्या वात्सल्यरतिक्रिया न तयोः; अतस्तदपेक्षया वात्सल्यरति श्रेष्ठा।

प्रश्नादि कर न सके। श्रीराधा के सङ्ग में प्रकाशातिशय ऋक्-परिशिष्ट ग्रन्थ में उक्त है—राधा के साथ माधव, एवं माधव के साहचर्य में राधा शोभिता होती है। मूल श्लोकस्थ 'एवकार' इस पद के साथ ही जोड़ना होगा, तब राधा के साथ श्रीकृष्ण सातिशय शोभित होते हैं, इस अर्थ के बल से अन्ययोग व्यवच्छेदरूप एवकार अर्थात् अन्यान्य गोपी से भी श्रीराधा के सङ्ग से ही निरतिशय शोभातिरेक होता है—यह ही संसूचित हुआ ॥१७॥

दास्यरति से आरम्भ कर क्रमशः जो श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, उस के सम्बन्ध में युक्ति यह है कि—दास्यरति के अनुभावरूप चामर बीजन ताम्बूलार्पण इत्यादि दास्य रसोचित क्रिया सख्यरति के अनुभाव रूपमें सखागण में देखी जाती है। किन्तु युद्ध में निर्जय करना, वसन पकड़ कर खींचना, हस्ताहस्ति, एवं वाकोवाक्यादि सख्यरसोचित क्रियाकलाप की उपलब्धि दास्य में नहीं होती है। सुतरां सख्यरति में दास्यरति की क्रिया अन्तर्मुक्त होने से अथच सख्यरति की क्रिया दास्यरति में न रहने से दास्य की अपेक्षा सख्य रति श्रेष्ठ है। इस प्रकार दास्य सख्य की क्रिया वात्सल्य रस में मिलती है किन्तु कृष्ण के सुख में भी अनिष्ट की आशङ्का, हिताहित

किञ्च श्रीकृष्णकर्त्तृकरतेरप्रतीतौ दास्यरतेरपुष्टता भवति, सख्यरतेस्तु तिरोभाव एव, वात्सल्यरतिस्तु स्वल्पमपि म्लानिं न भजते। अतोऽपि वात्सल्यरतिः श्रेष्ठा। तथैव दास्य-सख्य-वात्सल्यरतीनां क्रिया मधुररतावुपलभ्यन्ते, कटाक्ष-भुजाक्षेपाद्या मधुररतिक्रियास्तु न तासु। अत स्ताभ्यो मधुररतिः श्रेष्ठा। तत्रापि तत्तत्क्रियाणां राधिकायां पराकाष्ठापन्नत्वात्तस्या रतिः श्रेष्ठा; तस्यां तत्तत्क्रियाणां पराकाष्ठापन्नत्वञ्च—'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परेति' वृहद्गौतमीय-वचने 'परा सम्मोहिनी'त्यनेन लभ्यते। तथा सर्वकान्तिरित्यनेन सर्वलावण्य-

---

उपदेश दान, भोजन-पान इत्यादि वात्सल्यरति की क्रिया दास्य सख्य में नहीं है, अतएव दास्य सख्य से वात्सल्य ही श्रेष्ठ है। अपर दिक् में श्रीकृष्ण के द्वारा रति विषय में अप्रतीति (अज्ञान-अनादर) होती है तब दास्य रति की पुष्टि नहीं होती है, सख्य रति तो अन्तर्धान कर जाती है। किन्तु वात्सल्य रति बिन्दुमात्र भी म्लानि को नहीं सहती है, अर्थात् श्रीकृष्ण व्यवहार के प्रति निरपेक्ष होकर ही वात्सल्य रति प्रवृत्त होती है। इस हेतु वात्सल्य रति श्रेष्ठ है, और भी दास्य, सख्य, वात्सल्य रति की क्रिया मधुर रति में अन्तर्भुक्त रहती है। किन्तु कटाक्ष भुजाकर्षण प्रभृति मधुर रति की क्रिया उस में नहीं हैं, अतएव उस सब से मधुर रति श्रेष्ठ है। तन्मध्य में भी पुनर्बार उस उस क्रिया कलाप श्रीराधा में पराकाष्ठा प्राप्त होने से ही श्रीराधा की रति ही सर्वश्रेष्ठ है। इस विषय में प्रमाण यथा वृहद्गौतमीय में श्रीराधा, देवी (द्योतमाना-कृष्णक्रीड़ानिकेतन), कृष्णमयी (सर्वत्र कृष्णस्फूर्त्तिशीला—कृष्णस्वरूपा), राधिका (कृष्ण-वाञ्छा-पूर्त्तिकारिणी), सर्वलक्ष्मीमयी (सर्वलक्ष्मीगण का आकर, श्रीकृष्ण के षड् विध ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री, सर्वसौन्दर्य्यशालिनी), सर्वकान्ति (सर्ववाञ्छामयी), सर्वमोहिनी (कृष्णमनोमोहिनी), एवं परा (सर्वश्रेष्ठा) इस श्लोक के 'परा सम्मोहिनी' पद से श्रीराधा प्रेम की पराकाष्ठा प्रतिपादित हुई॥ सर्वकान्ति शब्द से—सर्वलावण्य-

मुग्धाङ्गी। सर्वावयवसुन्दरीमिति तस्या ध्यानान्तर्गत-तत्राऽन्यवचनेन च 'यत्राकृति स्तत्रगुणा' इति न्यायात् ॥१८॥

ननु 'वेदः पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च। बोधयन्त्यमुमेवार्थं त्रिवृद् भागवतं परमिति' वोपदेवेन (हरिलीला ६) काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यत्र मम्मटभट्टेनापि [काव्यप्रकाश १।२] मित्राणामपि हिताहितोपदेष्टृत्वं दृष्टान्तितमिति चेन्न, तत्र तत्राभ्यर्हितपुराण-दृष्टान्तेन मित्रपदस्य पितृमातृज्येष्ठभ्रात्रादिबन्धुपरत्वावगमात्। किञ्च—पूर्वरतिभ्य उत्तरोत्तररतिषु स्वरूपत एवास्वादविशेषोऽनुभव-सिद्धः। यदुक्तमाकरे [भ,र,सि,दक्षिण, स्थायी २२]—'यथोत्तरमसौ

मुग्धाङ्गी (सर्वलावण्य द्वारा मनोहर अङ्गशालिनी) का बोध होता है। "लावण्यसारसर्वाङ्ग-सर्वावयवसुन्दरीमि"त्यादि ध्यान के वचनान्तर से भी उनकी रति की पराकाष्ठा सूचित हुई है, कारण आकृति (रूप-शरीर) के अनुसार गुण का समावेश होता है, इस रीति से श्रीराधा सर्वावयव सुन्दरी होने से उन में ही निखिल कल्याणमय गुणराजिका समावेश हुआ है ॥१८॥

आशङ्का—वेद, पुराण, काव्य, क्रमशः प्रभु, मित्र, प्रिया भार्यावत् तीन प्रकार से एवं सर्वश्रेष्ठ श्रीभागवत, एकक ही त्रिविध रूपसे उक्त अर्थ (हिताहित प्रयोजन) का निरूपण करते हैं। वोपदेव की (हरि-लीला ६ श्लोक में) उक्ति में एवं काव्य प्रकाश के काव्यफल निर्णय प्रसङ्ग में यश, अर्थ लाभ, व्यवहार-ज्ञान, मङ्गल-लाभ, सद्य परमानन्द प्राप्ति एवं कान्तातुल्य उपदेश प्राप्ति इत्यादि एकमात्र काव्यालोचन से मिलते हैं, मम्मटभट्ट के इस कथनानुसार मित्रगण का भी हिताहितोपदेशदान प्रसङ्ग है? (तब क्यों गुरुगण में एवं मधुररसके भक्तगणमें हिताहितोपदेश प्रदान करने की क्षमता है,कहते हैं?) **उत्तर**—यह उक्ति समीचीन नहीं है, कारण उस उस स्थल में पूजित पुराण के दृष्टान्त द्वारा मित्र शब्दसे पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, बन्धु प्रभृति अर्थ सूचित होते हैं। और एक बात है—पूर्व पूर्व रति से पर पर रति में स्वरूपत: ही आस्वाद विशेष प्राप्त होता है,

स्वादविशेषोल्लासमय्यपि। रति र्वासनया साद्वी भासते कापि कस्यचिदिति।' अत्रापि राधिकाया वाम्यस्वभावत्वात्तस्या रतेरास्वादविशेषोऽनुभवसिद्ध एव। तस्या वामात्वं च व्रतरत्नाकर-धृत-भविष्योत्तरवचनात् यथा—'तस्मिन् दिने च भगवान् रात्रौ राधागृहं ययौ। सा च क्रुद्धा तमुदरे काञ्चीदाम्ना बबन्ध ह॥ कृष्णस्तु सर्वमावेद्य निजगेहमहोत्सवम्। प्रियां प्रसादयामास ततः सा तममोचयदिति।' तदेवं श्रुतियुक्त्यनुभवैरेव राधिकाया भावस्य सर्वोत्तमत्वं; तत्सम्बन्धेन श्रीकृष्णस्य निरतिशयत्वं सिद्धं। इदमत्र तत्त्वं—श्रीकृष्णस्य सौन्दर्य्यादिवत्तत्प्रियजनप्रेमापि निरवधिः, अतो यथा यथा सम्बन्धस्य सन्निकर्षता, तदङ्गसङ्गाद्यनुशीलनं तथा तथा ममता-प्रकर्षेण प्रेम्णः प्रकर्षता; यथा यथा च प्रेम्णः प्रकर्षता, तथैव

यह अनुभव सिद्ध सत्य है। रसामृत में भी उक्त है, पञ्चविध रति का उत्तरोत्तर स्वादाधिकच होने पर भक्त विशेष की वासना से भेद से किसी किसी रति स्वादु रूप में विवेचित होता है। यहाँ पर भी राधिका का वाम्यस्वभाव होने पर उनकी रति में आस्वादन विशेष अनुभव सिद्ध ही है। उन की वाम्यता की कथा व्रतरत्नाकर उद्धृत भविष्य पुराण उत्तर खण्ड से ज्ञात होता है। एक समय कार्त्तिक मास की पूर्णिमा तिथि में नन्दालय में उत्सव हो रहा था, उस दिन रात को कृष्ण उत्सव को छोड़कर राधा के घर पर पहूँच गये। राधा कुपिता होकर उनकी नीवी बन्धन रज्जु के द्वारा कृष्ण को पेट में बंध डाली, कृष्ण निज गृह महोत्सव की बात को कहकर प्रेयसी को प्रसन्न करने में समर्थ हुए, एवं श्रीराधा ने भी उन को बन्धन से मुक्त कर दिया। इस प्रकार विचार से देखने में आया कि श्रुतियुक्ति एवं अनुभव से श्रीराधिका का भाव ही सर्वोत्तम है एवं उनके सङ्ग से ही श्रीकृष्ण का प्रकाशातिरेक भी सिद्ध हुआ। तत्त्व कथा यह है कि—श्रीकृष्ण के सौन्दर्य प्रभृति जिस प्रकार असीम है, उस प्रकार उनके प्रियजन के प्रेम भी असमोर्द्ध विवर्द्धिष्णु है। सुतरां जिस जिस प्रकार सम्बन्ध की सन्निकर्षता, एवं उनके

वाह्योऽपि तत्सौन्दर्य्यादि-प्रकाशस्य प्रकर्षतेति। तदुक्तं नारदपञ्चरात्रे—"मणि र्यथा विभागेन नीलपीतादिभि र्युतः। रूपभेदवमाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः ॥" इति ॥१६॥

ननु "सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहा स्तस्य परात्मनः। हानोपादान-रहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्। परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वशः। सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥" इति महावराहवाक्यात् सर्वेषामवताराणां तुल्यतावगतेः कथमुक्तमंशांशित्वादि-तारतम्यं सङ्गच्छेत? किञ्चावतारावतारिणामैक्यं नानात्वं वा? आद्ये तारतम्यं विरुद्धं, द्वितीये नानेश्वरत्वापत्तिः। तच्च सर्वशास्त्र-विरुद्धं परस्पराश्रयत्व-(सम्मत्य) विशिष्टैककार्य्यानुत्पत्तेः। कथं वा

अङ्ग सङ्गादि का अनुशीलन ठीक उस प्रकार ही ममतातिशय्य से प्रेम की भी प्रकर्षता होती है। और भी जिस जिस प्रकार प्रेम का उत्कर्ष, उस उस प्रकार से ही बाहर भी श्रीकृष्ण सौन्दर्यादि का प्रकाशाधिकच होता है, श्रीनारद पञ्चरात्र में उक्त है,—एक ही वैदूर्यमणि, जिस प्रकार आधार भेद से नीलपीतादि अनेक वर्ण से रञ्जित होकर भिन्न भिन्न रूप में प्रतीयमान होती है, तद्रूप भगवान् अच्युत भी ध्यान भेद से रूप भेद को प्राप्त करते हैं ॥१६॥

आशङ्का—महावराह पुराण में उक्त है,—श्रीहरि के सर्वविध अवतार ही नित्य एवं पुनः पुनः प्रपञ्च में आविर्भूत होकर भी जन्मविनाशशून्य है, उन सबके देह कभी भी प्रकृति जात नहीं है, वे सब ही घनीभूत परमानन्द स्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप (ज्ञानाश्रय) सर्वदोष वर्जित अथच स्वरूपानुबन्धि सर्वगुण परिपूर्ण हैं। इस वाक्य के अनुसार सकल अवतार के साथ समता बोध होने पर कैसे पूर्वकथित अंशांशिविभाग द्वारा अपकर्ष-उत्कर्ष प्रसङ्ग सङ्गत होगा? अपरन्तु अवतार गण के साथ अवतारी की एकता है? अथवा अनेकता? यदि दोनों में ऐक्य है, तो उत्कर्ष अपकर्ष प्रसङ्ग विरुद्ध ही होगा, यदि पृथक हो तो, नाना ईश्वर वाद का अवसर होगा। किन्तु वह सर्वशास्त्र विरुद्ध है। कारण पारस्परिक आश्रय

'मणिर्यथे'त्यादिना मणिदृष्टान्तेनोक्तमेकस्यैव पृथक् प्रकाशिता सम्भवतीति चेदस्य समाधानयुक्तमाकरे [लघुभागवतामृते १।१६४-१६७] यथा—

"अत्रोच्यते परेशत्वात् पूर्णा यद्यपि तेऽखिलाः।
तथाप्यखिलशक्तीनां प्राकट्यं तत्र नो भवेत् ॥
अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांश-प्रकाशिता।
पूर्णत्वञ्च स्वेच्छयैव नानाशक्ति-प्रकाशिता ॥
शक्तिरैश्वर्य्यमाधुर्य्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्ते र्व्यक्तिस्तथाव्यक्ति स्तारतम्यस्य कारणम् ॥
शक्तिः समापि पूर्य्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः।
शीताद्यार्त्ति-क्षयेणाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत् ॥
एवमेव गुणादीनामाविष्कारानुसारतः।
भवध्वंसेन सौख्यं स्यात् भक्तादीनां यथायथम् ॥"

की असम्मति से विशिष्ट एक कार्य जगत् प्रभृति की सृष्टि नहीं हो सकती है, वैदूर्यमणि का दृष्टान्त से एकवस्तु में आधार भेद से पृथक् प्रकाश की बात कही गई है, वह भी कैसे सम्भव होगा ? लघु भागवतामृत में—इस का समाधान है,—यद्यपि परमेश्वरत्व हेतु सकल अवतार ही पूर्ण हैं, तथापि श्रीकृष्ण व्यतीत अन्य स्वरूप में निखिल शक्तिका विकाश नहीं है। जिस भगवत स्वरूप में सर्वदा अल्प शक्ति का प्रकाश होता है, उसको अंश, एवं जिस स्वरूप में स्वेच्छा से ही विविध शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसको पूर्ण कहा जाता है। 'शक्ति' शब्द से ऐश्वर्य (सर्वनियन्तृत्व), माधुर्य, (सर्वावस्था में मनोरमत्व), कृपा (पर दुःखनाश करने की अहैतुकी इच्छा), तेजः (काल, माया, कर्मादि को पराभूत करने की सामर्थ्य), इत्यादि गुण ही वाच्य है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति एवं अनभिव्यक्ति ही अंशांशिभाव का तारतम्य का कारण है। पुरीनगरादि को दग्ध करने में दीप एवं अग्निपुञ्ज में समान शक्ति होने पर भी जैसे अग्निपुञ्ज से ही शीतादि जनित दुःख नाश के बाद सुखलाभ होता

किञ्च—"एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तमचिन्त्यानन्त-शक्तितः॥"

तत्रैकत्वेऽपि पृथक् प्रकाशिता यथा श्रीदशमे (६९।२)—
"चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥" इति।

पृथक्त्वेऽप्येकरूपतापत्तिः यथा पाद्मे—'स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्॥ एकस्यैवांशांशित्वं यथा तत्रैव (१०।४०।७) 'यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकमिति।' विरुद्धशक्तित्वं यथा कौर्मे—'अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः। अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्त-

---

है, किन्तु दीप से नहीं होता है, उस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वांशगण में एवं स्वयं रूप में अविद्या हरण करने की दैत्यबध करने की समान शक्ति होने पर भी किन्तु सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण से ही संसार निवृत्ति पूर्वक परमानन्द लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि—ऐश्वर्य माधुर्यादि प्रकटन के तारतम्य के अनुसार ही अवतारगण के न्यूनाधिकच्य स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु तत्त्वतः सकल स्वरूप ही पूर्ण है। अधिकन्तु—एक ही परतत्त्व में अचिन्त्य अनन्त विरुद्ध शक्ति का समावेश होने से युगपत् एकत्व पृथकत्व, एवं अंशत्व अंशित्व होना भी असम्भव नहीं है, उसके मध्य में **एकत्व में भी पृथक् प्रकाशिता** के विषय में (भा० १०।६९।२)—यह विस्मयकर ही है, श्रीकृष्ण, एकक एक ही शरीर में युगपत् षोड़श सहस्र गृह में पृथग् भाव से षोड़श सहस्र रमणी का पाणि ग्रहण किए हैं। **पृथक्त्व में भी एकरूपता** यथा पद्मपुराण में,—वह निर्गुण निर्दोष देव पुरुषोत्तम श्रीहरि अनेक रूप में दृश्यमान होकर भी अचिन्त्यशक्ति के कारण सर्वदा एकरूप में ही विराजित होते हैं। एक ही श्रीहरि के अंशांशित्व यथा—(१०।४०।७) आप बहु मूर्त्ति में प्रकाशित होने पर भी तत्त्वतः एक ही मूर्त्ति है, अतएव साधकगण आप में आविष्ट चित्त होकर आप की अर्चना करते हैं। **विरुद्धशक्तित्व,** यथा कूर्म-

लोचनः। ऐश्वर्य्ययोगाद् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते। तथापि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः कथञ्चनेति ॥" एवं कार्य्यत्व-कर्मित्व-जन्मित्वाजत्व--सर्वसंहारकत्व--भीतत्व- गृहाश्रमनिष्ठत्वात्मारामत्व--विभुत्व-परिच्छिन्नत्वातत्त्वज्ञ-सर्वज्ञत्वादीनामपि परस्परविरुद्धधर्मानां तत्र समावेशो दृश्यते। तत्र कर्मित्वादि यथा तृतीयस्कन्धे (४।१६) "कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनं। कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन् रतेः खिद्यति धी र्विदामिह" इति। विभुत्वादि यथा श्रीदशमे (९।१३)—'न चान्त र्न बहि र्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्। पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः। तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्। गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथेति ॥" अज्ञत्व-सर्वज्ञत्वे यथा तत्रैव (१०।१३।१६)

पुराण में—आप सर्वथा अस्थूल होकर भी स्थूल, व्यापक होकर भी अणु, अवर्ण होकर भी श्यामवर्ण एवं रक्तान्त लोचन हैं। अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से भगवान् में इस प्रकार विरुद्ध गुण का समावेश होना अयौक्तिक नहीं है, एवं सर्वशक्तिमान् आप में अनित्यत्वादि किसी दोष की आशङ्का भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार उन में कार्यत्व, कर्मित्व, जन्मित्व, अजत्व, सर्वसंहारकत्व,भीतत्व, गृहाश्रम-निष्ठत्व, आत्मारामत्व, विमुख होकर परिच्छिन्नत्व, असर्वज्ञत्व में भी सर्वज्ञता इत्यादि परस्पर विरुद्ध यावतीय धर्म का समावेश दृष्ट होता है। उद्धव ने भी तृतीयस्कन्ध के (४।१६) में **कर्मित्वादि** के सम्बन्ध में कहा है—निष्क्रिय का कर्म, अज का जन्म, कालरूपी होकर शत्रु के भय से दुर्गाश्रित होना मथुरा से भगना, आत्माराम होकर भी षोड़श-सहस्र प्रमदा के साथ विहारादि विरुद्ध धर्म समूह को देखकर तत्त्वविद्गण का भी भ्रम उत्पन्न होता है। **विभुत्वादि** यथा—(१०।९।१४) जिनका अन्त नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं, अपर नहीं, अथच जो जगत के पूर्व, अपर, बाहर अन्तर एवं जो जगत् हैं, करुणा से जो मनुष्य होकर आविर्भूत हुए हैं, वह अव्यक्त-(प्रत्यक्षादि प्रमाण गोचर) भगवान् को पुत्र मानकर गोपी यशोदा

"ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्। उभावपि बने कृष्णो विचिकाय समन्ततः। क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित्। सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम हे'ति। अत्रेदं रहस्यं —"परास्य शक्तिर्विधिधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि [श्वेताश्वतर ६।४] श्रुति प्रामाण्यात् स्वरूपभूतविचित्रैक-शक्तिमत्त्वं भगवतः प्रतीयते। ततश्चाघटनघटना-पटीयसा लीलानु-कूलात् स्वरूपभूता काचिदचिन्त्यशक्तिरभ्युपेयते, यथा हि परस्पर-विरुद्ध-धर्माणामाश्रयो भगवान्। सा हि यदा यस्यां लीलायामन्तरा-वेश स्तस्य तदा तस्या लीलाया अनुकूलमज्ञत्वादिकं एकैकश्चिदुद्-भावयति, अन्यत् सर्वमावृणोति च। यदा तु नान्तरावेश स्तदा विरोधाभावाद् द्वयं चैकदैवोद्भावयतीति। तत्र 'भयभावनया

प्राकृत बालक के समान रज्जु के द्वारा उदूखल में बंधी थी। **अज्ञता असर्वज्ञता** यथा—(१०।१३।१६) श्रीकृष्ण पर्वतादि में वत्सगण को न देखकर पुनर्बार पुलिन में आकर वत्सपालगण को न देखकर समस्त बन के मध्य में अन्वेषण करने लगे। सर्वज्ञ होकर भी श्रीकृष्ण बन में जाकर कहीं पर वत्स, बालकगण को भी न देखकर यह सब कार्य ब्रह्मा का ही है—यह विषय को आप सहसा ही जान गए। यहाँपर सारार्थ यह है कि परतत्त्व के ज्ञान-बल-क्रियादि विविध स्वाभाविक शक्ति की बात भी सुनने में आती है, श्वेताश्वतर उपनिषत् से श्रीभगवान् के स्वरूपभूत विचित्र एक शक्तिमत्ता की उपलब्धि होती है।

उसके बाद भगवान् जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय हैं, तद्रूप अघटनघटनपटीयसी लीलानुकूल्य से स्वरूपभूता किसी शक्ति को भी स्वीकार करना होगा। जब जिस लीला में श्रीभगवान् का मानसावेश होता है, तब वह अचिन्त्यशक्ति, उस लीला की अनुकूलता हेतु अज्ञत्वादि धर्मसमूह के एक एक को उद्भावन करती है, एवं अन्य सब धर्म को आवृत कर देती है। किन्तु जब श्रीभगवान् का मानसावेश नहीं रहता है, तब विरोध का अभाव से युगपत् अज्ञत्व,

स्थितस्ये'त्यत्र केवलस्यातत्त्वज्ञस्यैवोद्भावनं, 'न चान्त र्न वहि र्यस्ये'त्यादौ युगपदेव विभुत्व-परिच्छिन्नत्वयो र्द्वयोः। 'कर्माण्यनीहस्ये-त्यत्रापि द्वयो, 'भवोऽभवस्ये'त्यत्र च द्वयोः; कर्मकरणसमये, जन्म-समये चाचिन्त्यशक्त्यानीहत्वाजत्वयोः सम्भवात्, दुर्गाश्रयद्रुत्यादावेक-दैव भीतत्वादि-चतुर्णां; तथाहि वैरिभ्यो यादवानां द्रोहो माभूदिति भक्तसम्बन्धेनोद्गता या भी स्तया भीत्या यदा दुर्गाश्रयणं तदैव यद्यत्रापि वैरिण आगमिष्यन्ति तदा सर्वान् संहरिष्यामीति क्रोधावेशात् स्वस्य कालरूपत्वानुसन्धानमप्यस्ति। भक्तवर्ग-वैरिवर्गयोरन्यत्र समत्वात् आत्मारामत्वं, तदापि प्रमदायुताश्रयणेन गृहाश्रमनिष्ठत्वम-प्यस्त्येवेति ॥२०॥

ननु निष्क्रियत्वाजत्वसर्वज्ञत्वादि वास्तवं सत्क्रियत्व-जन्मित्वाज्ञ-

---

सर्वज्ञत्व प्रभृति दोनों का ही उद्भावन करती है। पूर्वोक्त कुन्तीस्तव में भय-भावना में अवस्थित कृष्ण का केवल अतत्त्वज्ञत्व का ही उद्भावन हुआ था। दामबन्धन लीला में अन्तर बाहर न रहने से भी मा से उदूखल में बद्ध होना, इस में युगपत् विभुत्व परिच्छिन्नत्व धर्मद्वय का विकाश हुआ था। उद्धव की उक्ति में निष्क्रिय का कर्म, अज का जन्म, इत्यादि में विरुद्ध धर्मद्वय का युगपत् प्रकाश हुआ है। क्यों कि कार्य के समय, एवं जन्म समय में अचिन्त्य प्रभाव से उनका निष्क्रियत्व एवं अज्ञत्व की सम्भावना है। दुर्गाश्रय, पलायन, प्रभृति में एक समय में ही भीतत्वादि चार धर्मों का विकाश हुआ था। जिस प्रकार शत्रु से यादवगण का किसी प्रकार द्रोह न हो, इस प्रकार भक्त के सम्बन्ध में उद्वेग भय से आप दुर्गाश्रय किये थे, तब ही पुनर्बार शत्रु का आगमन यहाँपर होने से सब को नाश करेंगे,— इस क्रोधावेश से निज **कालरूपत्व** का अनुसन्धान भी है। भक्तगण एवं शत्रुगण व्यतीत अन्यत्र शमभावापन्न होने से **आत्मारामत्व** एवं तब ही षोड़ष-सहस्र प्रमदा का साहचर्य स्वीकार करने से **गृहाश्रम-निष्ठत्व** रूप धर्म का विकाश हो रहा है ॥२०॥

आशङ्का—निष्क्रियत्व, अज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्म वास्तव हो,

त्वादिकमवास्तवमनुकरणमात्रमिति कथं न स्यादिति चेन्न तथात्वे विरोधाभावेन खिद्यते, 'धीविदामिहे'त्यनेनोक्तविद्वद्बुद्धिमोहासम्भवात्। तस्मात्तत् सर्वं वास्तवमेव, तदेवं सिद्धमेकस्यैवाचिन्त्यशक्त्यवतारावतारित्वादिकं तारतम्यादि चेति। एवं स्थिते विरोधिवचनानामपि समाधानमुच्यते, तद्यथा-कुत्रापि श्रीकृष्णस्य नरभातृनारायणावतारत्वं, क्वापि वामनावतारत्वं, क्वापि क्षीरोदशाय्यवतारत्वं च श्रूयते। तत्र नारायण-वामनावतारत्व'मेते चांशकलाः पुंस' इत्यनेनैव निरस्तं। क्षीरोदशाय्यवतारत्वं च विष्णुधर्मवचनान्निरस्तं। तद् यथा—वज्रेण क्षीरोदशायिनि पृष्टे 'अनिरुद्धं विजानामि पितरं ते जगत्पति'मित्युत्तरितं मार्कण्डेयेन। अन्यथा

एवं कर्म, जन्मित्व, अज्ञत्वादि धर्म अवास्तव अनुकरण मात्र ही क्यों न हो? **समाधान**—ना, इस प्रकार कह नहीं सकते। इस प्रकार व्याख्या करने पर विरोधाभाव तो होता है, किन्तु रस विरुद्ध होकर भागवत वाक्य ही मिथ्या होगी, उक्त कर्म समूह यदि वास्तव नहीं होते तो, उद्धव की 'धीविदामिह' उक्ति से तत्त्वज्ञानी समूह की बुद्धिभ्रंश कभी भी नहीं होता। सुतरां उक्त प्रकरण विरुद्ध प्रतीत होने पर भी, सब ही वस्तु वास्तव सत्य हैं। सम्प्रति प्रमाणित हुआ कि—एक ही तत्त्व, अचिन्त्य शक्ति से अवतारत्व, अवतारित्वरूप में प्रकाश हो सकता है, एवं ऐश्वर्य्य माधुर्यादि विकाश के तारतम्यानुसार से अंशांशि का भी न्यूनाधिक्य स्वीकार करना होगा।

सम्प्रति अन्यान्य विरुद्ध वचनावलियों का समाधान करते हैं— कहीं पर श्रीकृष्ण को नरभ्राता नारायण का अवतार, कहीं तो वामन का अवतार, कहीं पर क्षीरोदशायि का अवतार कहते हैं। उस में से नारायण वामन के अवतारत्व की कथा, (एते चांशकलाः पुंसः) श्रीमद्भागवत में पठित द्वाविंश अवतार के मध्य में कोई कोई तो पुरुषोत्तम के अंशकला हैं, किन्तु श्रीकृष्णावतार सर्वशक्तिमत्त्व हेतु स्वयं (अन्यनिरपेक्ष) भगवान् हैं। इस वचन से आक्षेप निरस्त हुआ। क्षीरोदशायिका अवतारत्व भी विष्णुधर्म के प्रमाण से निरस्त हुआ।

ते प्रपितामहं तं श्रीकृष्णं विजानामीत्येवमेवोक्तं स्यादिति। इदमत्र राद्धान्तरहस्यं यदा सर्वातारी श्रीकृष्णः प्रपञ्चे स्वयमवतरति, तदा स्वकीयान् सर्वानंशान् क्षीरोदशायिप्रभृतीन् तेषां स्वभावलीला-शक्त्याद्यंशान् वा स्वस्यान्तर्गृहीत्वावतरति, तत्रितयञ्च तदंशेन शक्तिशक्तिमतोरभेदोपचारेण वा स एवायमिति क्षीरोदशाय्यादिशब्दै स्तं व्यपदिशन्ति रहस्यज्ञानमुनय इति। तथा चोक्तं तृतीयस्कन्धे (२।१५) 'परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्नि-रिति।' अस्यार्थः—महान्तः क्षीरोदशायि-प्रभृतयो येंशा स्तै र्युक्तः

अनिरुद्ध पुत्र वज्र मार्कण्डेय को प्रश्न किये थे,—कल्पान्त में बालक रूपी जिन को दर्शन करके भी सर्वज्ञ आप जानने में समर्थ नहीं हुए? वह कौन है? ऋषि मार्कण्डेय ने उत्तर दिया—वह जगत्पति विष्णु तुम्हारे पिता अनिरुद्ध हैं। अन्यथा यदि श्रीकृष्ण अनिरुद्ध का अवतार होते तो, मुनिवर कहते हैं—वह उस प्रलयाब्धिस्थित जगत्-पति तुम्हारे प्रपितामह श्रीकृष्ण हैं। तात्पर्य यह है कि—श्रीकृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न, तत्पुत्र अनिरुद्ध, एवं उनका पुत्र ही वज्र है,—इस प्रकार वंश परिचय से श्रीकृष्ण वज्र का प्रपितामह, अतएव श्रीकृष्ण का क्षीरोदशायी का अनिरुद्धावतारत्व खण्डित हुआ। अब सिद्धान्त रहस्य कथा कहता हूँ। जब सर्वावतारी श्रीकृष्ण प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं, तब उनके स्वकीय सकल अंशावतार क्षीरोदशायी प्रभृति को अथवा उनके स्वभाव लीला, शक्ति इत्यादि अंशसमूह को अपने में अन्तर्भुक्त करके अवतीर्ण होते हैं, तब वह तीन (स्वभाव, लीला, शक्ति) श्रीकृष्ण के ही अंश हेतु अथवा शक्ति-शक्तिमान का अभेद की कल्पना से क्षीरोदशायि प्रभृति शब्द से उस श्रीकृष्ण को ही रहस्य ज्ञान सम्पन्न मुनिगण निर्देश करते हैं।

तृतीयस्कन्ध में उक्त है—परावरेश (प्रकृति के परे में अवस्थित नारायणादि स्वरूप एवं ब्रह्मादि का ईश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण) महदंशयुक्त (महत्स्रष्टा पुरुष एवं मत्स्य-कूर्म-नरसिंह-नारायण-वामनादि अंशगण से युक्त) होकर प्राकृतजन्मरहित होकर भी काष्ठ

महतां तेषां येंशाः स्वभावलीलाशक्त्यादय स्तै र्युक्त इति वा; अयमेव न्यायो वसुदेवादीनां कश्यपादि-व्यपदेशे ज्ञेयः। यथाग्निरिति —यथाग्नि स्तेजोरूपेण तत्र न सन्नपि घर्षणादिकं कञ्चिद्धेतुं प्राप्य मणिकाष्ठादिभ्यो जायते; एवमनादिमेव जन्मादिलीलां दैत्यपीड़ित-भक्तेषु कृपया लीलार्थञ्च श्रीकृष्णः प्रकटीकरोतीत्यग्निदृष्टान्तेनोक्त-मिति। किञ्च—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं', 'स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्य-धीशः', 'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर' इत्यादिषु स्वयं साक्षादादि-शब्दैः स्वस्य परव्योमनाथाद्यवतारत्वं निरस्तम्। तत्तत्तया व्यपदेशे तु क्षीरोदशाय्यादि-व्यपदेशोक्तन्याय एव ज्ञेयः॥२१॥

से नित्यसिद्ध अग्नि का आविर्भाव के समान स्वय नित्यसिद्ध भगवान् महाभूत रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। सम्प्रति श्रीपाद इस श्लोक में महदंशयुक्त शब्द की विवृति किये हैं—क्षीरोदशायि प्रभृति जो सब स्वांशावतार हैं अथवा उस स्वांशगण के जो अंश अर्थात् स्वभाव, लीला, शक्ति है,—उसके साथ सम्मिलित होकर आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार वसुदेव-देवकी प्रभृति में जो कश्यप अदिति प्रभृति का आरोप होता है,—वह भी इस न्याय से मीमांसित होगा, अर्थात् वसुदेव-देवकी के देह में कश्यपादिति का प्रवेश है। अग्नि दृष्टान्त की सार्थकता दिखाते हैं—मणिकाष्ठादि में तेजोरूप में अग्नि वर्त्तमान न होने पर भी जिस प्रकार घर्षणादि हेतु को प्राप्त कर उससे विकाश लाभ होता है, उस प्रकार दैत्यपीड़ित भक्तगण के प्रति कृपा हेतु एवं लीलाविनोद हेतु श्रीकृष्ण,—अनादि सिद्ध जन्मादि लीला को ही प्रकटित करते हैं। और भी—"कृष्ण स्वयं भगवान्", "स्वयं आप असमोर्द्ध त्र्यधीश", वसुदेव के घर में परमपुरुष साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं,—इत्यादि वाक्य में 'स्वयं, साक्षात्' प्रभृति शब्द विन्यास से श्रीकृष्ण का परव्योमनाथादि का अवतार बाद भी निराकृत हुआ। कोई कोई व्यक्ति उनको परव्योमनाथ शब्द से कहते हैं—क्षीरोदशायी शब्द से जिस प्रकार सिद्धान्त निरूपित हुआ है, अवतारी कृष्ण में स्वांश समूह का प्रवेश होने के कारण अंशी

केशावतार-भ्रमस्तु सामान्यत स्तावत् । यच्च विष्णुपुराणे 'उज्जहारात्मनः केशा'वित्यादि, तत्तु न केशमात्रावताराभिप्रायं, किन्तु भूभारावतरणरूपं कार्य्यं कियदेतत्, मत्केशावेव तत् कर्त्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं। रामकृष्णयो र्वर्णसूचक-केशोद्धरणमिति गम्यते, अन्यथा तत्रैव पूर्वापर-विरोधापत्तेः ; 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि'त्येतद् विरोधाच्चेति विद्वद्भिः श्रीस्वामिचरणैरेव निराकृतः, विशेषत स्त्वाकरे। एवं विरोधिवचनानामर्थ-गत्यन्तरमप्युक्तमस्त्याकरे, बाहुल्यभीत्या नेह तत्प्रस्तुतमिति सर्वं सुस्थम् ॥२२॥

अथ प्रकृतमनुसरामः— यत्त्वत्र युगलोपासकत्वाच्छ्रीराधाकृष्णयोश्चरणकमलानां प्रेमसेवा साध्येति वक्तव्ये श्रीराधाप्राणबन्धोरिति वचनं तत् खलु रसशास्त्रानुसरणेन समस्नेहा-पक्षमाश्रित्य कवेः

भी समय विशेष में अंशगण के नाम से कथित होते हैं, इस स्थल में भी उस प्रकार समझना होगा ॥२१॥

केशवतारभ्रम भी अति सामान्य है। विष्णुपुराण में उक्त है— 'उज्जहारात्मनः केशौ' वह केश का ही अवतार है, इस अर्थ में नहीं कहा गया है। उसका तात्पर्य है—भूभारहरण रूप कार्य अति सामान्य है, मेरा केशद्वय ही उसको कर सकेगा एवं रामकृष्ण के वर्णसूचक (श्वेतकृष्ण) केश का उद्धार ही लक्ष्य है, ऐसा न होने पर पूर्वापर वाक्य के साथ विरोध होगा एवं 'कृष्ण स्वयं भगवान्' इस परिभाषा वाक्य के साथ भी विरोध अनिवार्य ही होगा, यह पण्डित श्रीधर स्वामिचरण ने भी निरसन किया है। विशेष जानकारी के लिए सन्दर्भ भागवत टीकादि अनुसन्धेय है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अवतारित्व के सम्बन्ध में विरुद्ध वचन समूह का अर्थ एवं गत्यन्तर आकर सन्दर्भादि में वर्णित है, विस्तार के भय से वे सब उद्धृत नहीं हुए ॥२२॥

सम्प्रति प्रकृत प्रस्ताव का अनुसरण कर रहा हूँ। युगलकिशोर के उपासकगण के श्रीराधाकृष्ण के चरणकमल की प्रेमसेवा साध्या है, यह वक्तव्य होने से भी यहाँपर श्रीराधा प्राणबन्धु के चरणकमल

सर्वात्मना श्रीराधिकानुवर्त्तनं लक्षयति। तेन चैतादृशस्यापि श्रीकृष्णस्य भजनात्तस्या भजनस्याधिक्यं व्यज्यते। तथाहि—एवं हि रसशास्त्र-मर्यादा, सख्य स्तावत् त्रिविधाः; नायके स्नेहाधिक्यः, नायिकायां स्नेहाधिक्यः, उभयत्र समस्नेहाश्चेति। तत्र समस्नेहा उभयत्र तुल्यस्नेहा अपि नायिकासम्बन्धित्वाभिमानवत्यः। तथा च समस्नेहामधिकृत्योक्तमाकरे [उज्ज्वले सखी-प्रकरणे ६२] 'तुल्य-प्रमाणकं प्रेम वहन्त्योऽपि द्वयो रिमाः। राधाया वयमित्युच्चैरभि-मानमुपाश्रिता' इति। तथा च सति तस्यां ममतातिशया,तद्बन्धुत्वेनैव तासां श्रीकृष्णभजनं, न किल स्वबन्धुत्वेनेति; अतः स्वस्यापि समस्नेहाभिमानित्वाद् राधाबन्धोरित्युक्तमिति। नन्वेकत्र ममताधिक्ये कथं स्नेहस्योभयत्र समत्वं सम्भवेदिति चेदुच्यते-तस्यां ममतातिशया

की प्रेमसेवा साध्या कहा गया है, वह रस शास्त्रानुसार समस्नेहा सखी के पक्ष को लेकर ही गोस्वामीपाद ने कहा है, एवं इसमें उनका सब प्रकार से श्रीराधानुगत्य ही लक्ष्य है। उसमें भी इस प्रकार नायक शिरोमणि श्रीकृष्ण का भजन की अपेक्षा से भी श्रीराधा का भजन सर्वाधिक व्यञ्जित हुआ है। रस-शास्त्र में भी यह नियम लिपिबद्ध है—सखीगण तीन प्रकार होते हैं—(१) नायक में स्नेहाधिक, (२) नायिका में स्नेहाधिक, (३) नायक नायिका में समस्नेहा। तन्मध्य में समस्नेहा सखीगण. उभय के प्रति समस्नेहा होने पर भी, नायिका के सम्बन्ध में ही सम्बन्धवती होती हैं। इन सब के सम्बन्ध में उज्ज्वलमणि ग्रन्थ के सखी प्रकरण (६२) में उक्त है, श्रीराधाकृष्ण में समान स्नेहा स्थापन करके भी समस्नेहा सखीगण हम सब श्रीराधा की ही हैं—इस प्रकार महा अभिमान रखती हैं। ऐसा होने से उन सब की श्रीराधा में ही अधिक ममता है। श्रीराधा का बन्धु होने से ही उन सब का कृष्णभजन है, किन्तु निज बन्धु है—इस बुद्धि से कभी नहीं, यह ही है प्रकृत सिद्धान्त। सुतरां अपना भी समस्नेहाभिमान है, इस हेतु श्रीपाद ने मूलश्लोक में श्रीराधा प्राणबन्धु शब्द का प्रयोग किया है। सम्प्रति **आशङ्का**—

स्तस्याः सुखार्थं, ततोऽपि तासां श्रीकृष्णेऽधिका प्रीतिर्भवति। एवं श्रीकृष्णस्यापि तदैव सुखं यदा स्वतोऽपि तस्यामधिका प्रीति स्तस्य सुखार्थं, तस्मादपि तस्यामधिका प्रीतिः। एवञ्च परसुखार्थं परपरस्मिन्नधिका प्रीति स्तासां न बुद्धिपूर्विका, किन्तु रस-स्वाभाव्यादे; तत्र जलक्रीड़ा-द्यूतक्रीड़ा-वाक्कलहादिषु सख्याः पक्षपातेन तस्य भर्त्सनादिना सखीगतस्याधिक्यांशस्य प्राकट्यं भवति, तस्य च श्रीकृष्ण परमसुखदत्वेन तद्विषयत्वमेव, प्रतीतिमात्रं तु सखीविषयत्वेन; एवं सख्या अत्यन्तमानसमये श्रीकृष्णदुःखदर्शनेन सख्या भर्त्सनादिना श्रीकृष्णगतस्याधिक्यांशस्य प्राकट्यं भवति; तस्य च सखीविषयत्व-

---

एक स्थान में ममताधिक्य होने से उभय स्थल में सम्मान रक्षा करना कैसे सम्भव होगा? **उत्तर**—सखीगण के श्रीराधा में जो ममतातिशय्य है, वह तो श्रीराधा के ही सुख के लिए है। इस हेतु (श्रीराधा के सुख पोषण हेतु) सखीगण श्रीकृष्ण में अधिक प्रीति रखती है। इस से श्रीकृष्ण का भी तब सुख होता है, जब श्रीकृष्ण देखते हैं कि—उनके सुख के लिए ही सखीगण श्रीराधा के प्रति अधिक प्रीति करती हैं। श्रीकृष्ण सुख पोषण हेतु भी सखीगण श्रीराधा में अधिक प्रीति रखती हैं। इस से प्रतीति होती है कि—दूसरे के सुख निमित्त पर्यवसित होने के कारण सखीगण की श्रीराधाकृष्ण विषय में एक से अन्य में अधिक जो प्रीति है—वह बुद्धि पूर्वक संघट्यमान नहीं है, किन्तु रस-स्वभाव से ही इस प्रकार होता रहता है। तन्मध्ये जलकेलि, पाशा-खेला, वाकोवाक्य प्रभृति में सखीगण निज सखी राधा के पक्ष लेकर श्रीकृष्ण को भर्त्सनादि करती हैं. उस से सखीगत स्नेहाधिक्यांश का ही विकाश सूचित होता है, वह भी कृष्ण का परमसुख प्रद होने से कृष्णविषयक ही कहना होगा, किन्तु यह श्रीराधा विषयक प्रतीति होती है, इस प्रकार श्रीराधा के दुर्जय मान के अवसर पर श्रीकृष्ण के दुःख को देखकर सखी सब राधा को जो भर्त्सना करती हैं, उस में भी श्रीकृष्णगत स्नेहाधिक्यांश का ही आविर्भाव व्यञ्जित होता है।

मेव, प्रतीतिमात्रन्तु श्रीकृष्णविषयत्वेन। तस्य भर्त् सनादिकस्य सखीसुखे पर्य्यवसानात्; सख्या अनभीष्ट-श्रीकृष्णदुःखविघाताय प्रवृत्तत्वाच्च। तथा च ललितादिसमस्नेहाः प्रकृत्यैवोक्तमाकरे—(उज्ज्वले राधा ३७) 'आसां सुष्ठु द्वयोरेव प्रेम्नः परमकाष्ठया। क्वचिज्जातु क्वचिज्जातु तदाधिक्यमिवेक्ष्यते॥' इति; तदेवं सिद्धमेकत्र ममताधिक्येऽप्युभयत्र स्नेहसाम्यम्॥२३॥

तदेवं लाक्षणिकोऽर्थः प्रदर्शितः; इदानीं व्यङ्ग्योऽर्थः प्रदर्श्यते। तथाहि—'आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परं। तस्मात् परतरं देवि! तदीयानां समर्चनमिति' पाद्मवचनात्, 'अभ्यर्चयित्वा गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते विष्णोः प्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः' इति हरिभक्तिसुधोदयात् (१३।७६) "मम भक्ता हि ये पार्थ!

किन्तु वह परिणाम में सखीं सुख में पर्यवसित होने के कारण सखीविषयक ही होता है, किन्तु श्रीकृष्ण-विषयक भानमात्र होता है। सखी की यह प्रवृत्ति भी अनभीष्ट श्रीकृष्ण दुःखनाश के निमित्त ही है। सुतरां ललिता प्रभृति समस्नेहा सखी के प्रसङ्ग में उज्ज्वल (राधा ३७) में उक्त है, ललितादि अष्टसखीगण श्रीराधाकृष्ण विषयक प्रेम की पराकाष्ठा के कारण कभी कभी श्रीकृष्ण के प्रति अधिक प्रीतिमती होती हैं, कभी तो श्रीराधा के प्रति प्रीत्याधिक्य का प्रकाश करती हैं, अर्थात् खण्डिता अवस्था में श्रीराधा में अनुराग, श्रीकृष्ण में उससे कम प्रीति। दुर्जयमान के समय श्रीकृष्ण में अनुराग एवं राधा के प्रति कम प्रीति का प्रदर्शन करती हैं। इससे स्थिर हुआ कि—एकस्थल में ममत्वाधिक्य होने पर भी उभय स्थल में स्नेह साम्य होना दोषावह नहीं है॥२३॥

अभीतक **लक्ष्मणा**मूलक अर्थ प्रदर्शित हुआ, सम्प्रति **व्यङ्ग्यार्थ** प्रदर्शित हो रहा है। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है, सब देवदेवी की अर्च्चना से भी श्रीविष्णु की आराधना श्रेष्ठ है, हे देवि! उस से भी भक्तगण की आराधना श्रेष्ठतर है। श्रीहरिभक्तिसुधोदय में कथित है,—जो जन श्रीगोविन्द की अर्च्चना करके उनके भक्तगण की

न मे भक्तास्तु ते मताः। मद्भक्तस्य तु ये भक्ता स्ते मे भक्ततमा मताः' इत्यादि पुराणात्, 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति श्रीभागवताच्च (११।१९।२१) यस्य कस्य.पि भगवद्भक्तस्याराधनं तद्भजनाच्छ्रेष्ठमिति सिध्यति, तेन च ततोऽप्यनादिसिद्धानां तन्नित्यपरिकराणां भजनस्य श्रैष्ठ्यमायाति, अन्यभक्तै स्तेषामवश्यपूज्यत्वात्, अतएव पाद्मे वाक्ये तर-प्रयुक्तः। श्रीकृष्णभजनात्तद्भक्तमात्रभजनं परतरं, तन्नित्यपरिकराणां भजनन्तु परतममित्यर्थः। ततश्चाशेष-तन्नित्यपरिकरवर्ग-मूर्द्धन्याया स्तस्या आराधनमतिशयपरतममिति सिद्धम्। अशेष-तन्नित्यपरिकरमूर्द्धन्यात्वञ्च तस्या उक्तमेव प्रेम-प्रकर्षतया ।।२४।।

इदानीं वाचनिकमपि तदुच्यते। तथाहि—'भक्त एव हि तत्त्वेन

अर्च्चना नहीं करता है, वे सब श्रीविष्णु के प्रसन्नता प्राप्त नहीं करता, कारण वे सब ही दाम्भिक विष्णु वञ्चक है। आदिपुराण में उक्त है—हे अर्ज्जुन! जो लोक केवल मेरा भजन करता है, अथच मेरा भक्त में भक्तिशून्य है, वे सब भक्त शब्द से कहने के योग्य नहीं हैं, किन्तु जो जन, मेरा भक्त का भक्त है वे सब ही भक्त श्रेष्ठ है। श्रीभागवत मे वर्णित है--मेरे भक्त की पूजा ही मेरी पूजा से अधिक है। इस प्रमाण से ज्ञात होता है कि,—जिस किसी भगवद् भक्त की पूजा ही भगवत् पूजा से श्रेष्ठ है। इस प्रकार साधारण भक्त से अनादिसिद्ध नित्य परिकरों का भजन श्रेष्ठ है, कारण नित्य परिकरगण की पूजा अन्य भक्तगण के लिए एकान्त आवश्यक है। इस हेतु पद्मपुराण के वचन में 'परतर' शब्द में 'तर' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण-भजन से जिस किसी भक्त की पूजा यदि परतर है, तब श्रीकृष्ण के नित्य परिकरगण का भजन तो परतम होगा ही, उसके बाद निखिल नित्य परिकरगणशिरोमणि श्रीराधा की आराधना तो अतिशय परतम है, यह ही सुनिष्पन्न हुआ। श्रीराधा ही निखिल परिकर श्रेष्ठ हैं, वह उन की प्रेम-प्रकर्षता वशतः ही है, यह विषय पहले कहा गया है ।।२४।।

सम्प्रति पुराण वचन प्रमाण के द्वारा भी अर्थ कर रहा हूँ।

कृष्णं जानाति न त्वहम्। सर्वेषु हरिभक्तेषु प्रह्लादोऽतिमहत्तमः॥' इति स्कन्दपुराणीय-श्रीरुद्रवचनात् सर्वभक्तेभ्यः प्रह्लादः श्रेष्ठः। ततोऽपि पाण्डवाः श्रेष्ठाः, तथाहि सप्तमस्कन्धे (१५।७५-७७) श्रीनारद-वाक्यं—'यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति। येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥ स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यकैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः। प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयानुवर्णितम्। मौनेन भक्त्योप-शमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्त्वतां पतिरिति॥" व्याख्यातञ्च स्वामिपादैः—अहो प्रह्लादस्य भाग्यं येन देवो दृष्टः, वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं राजानं प्रत्याह—यूयमिति त्रिभिः। अस्य पद्यत्रयस्य तात्पर्य्यार्थश्च स्वामिपादैरेव लिखितः। न तु प्रह्लादस्य गृहे परं ब्रह्म वसति, न च तद्दर्शनार्थं मुनय स्तद्गृहानभियन्ति, न च तस्य

भक्त ही स्वरूपतः कृष्ण को जानते हैं, मैं नही जानता हूँ। हरिभक्त गण के मध्य में प्रह्लाद अति महत्तम,—स्कन्दपुराण के रुद्र के वचनानुसार सब भक्तगण के मध्य में प्रह्लाद श्रेष्ठ हैं। प्रह्लाद से पाण्डवगण श्रेष्ठ हैं, सप्तमस्कन्ध में नारदजी ने कहा है—हे राजन् युधिष्ठिर! प्रह्लाद भाग्यवान्, हम सब मन्दभाग्य हैं,—यह मानकर विषण्ण न होना। इस मनुष्य लोक में आप सब ही महाभाग्यवान् हैं। कारण—भुवन-पावन मुनिगण तुम्हारे घर में सतत गमना-गमन करते रहते हैं। कारण आप के घर में परब्रह्म नररूप में विराजमान हैं। वह श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, महाजनगण उनके चरण की अन्वेषण करते हैं, आप कैवल्यरूप सुखभोग के आधार स्वरूप हैं। आप,–आप सब के प्रिय, सुहृद्, मातुल पुत्र, आत्मा, पूज्य, आज्ञाकारी एवं गुरु हैं। शिव-विरिञ्चि प्रमुख देवतागण निज निज बुद्धि से उनका स्वरूप निर्णय करने में असमर्थ हैं। आप मौन-व्रत, भक्तियोग, उपशमादि के द्वारा पूजित होते हैं। वह सात्वतपति भगवान् प्रसन्न होवे, यही प्रार्थना। इस श्लोक का

मातुलेयादिरूपेण वर्त्तते, न च स्वयमेव प्रसन्नः, अतो यूयमेव ततोऽप्यस्मत्तोऽपि भूरिभागा इति भावः। इति पाण्डवेष्वप्यर्जुनः श्रेष्ठः। तथा च गीतासु (१०।३७) भगवद्वचनं 'पाण्डवानां धनञ्जय' इति। विष्णुधर्मे च—'य स्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति वेत्ति मान्तु स मामनु। आत्मन स्त्वात्मभेदेन जानामि कुरुनन्दने'ति। सर्वदा सन्निकृष्टत्वेन श्रीकृष्णेऽतिममतातिशयादर्जुनादपि केचन यादवाः श्रेष्ठाः। तथाहि श्रीदशमे (८२।२८) "अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह। यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम्।।" तथा (१०।९०।४६) "शय्यासनाटनालापस्नानक्रीड़ासनादिषु। न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतस" इति यादवेष्वप्युद्धवः श्रेष्ठः, तथा चैकादशे (११।१४।१५)—"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनि र्न शङ्करः। न च

तात्पर्यार्थ श्रीधर-स्वामिपाद ने कहा है। प्रह्लाद के घर में परब्रह्म नहीं रहते हैं, उन के दर्शन हेतु मुनिगण वहाँपर नहीं जाते हैं। भगवान् प्रह्लाद के मातुलेयादि सम्बन्ध से भी आबद्ध नहीं हैं। और आप उनके प्रति स्वयं ही प्रसन्न नहीं हुए हैं। अतएव आप सब ही प्रह्लाद से श्रेष्ठ हैं, ऐसा कि हम सब से भी आप सब महाभाग्यवान् हैं। पाण्डवगण के मध्य में अर्जुन ही श्रेष्ठ हैं—श्रीभगवान् गीता में कहे हैं, आप पाण्डवगण के मध्य में धनञ्जय हैं। विष्णुधर्म में उक्त है—हे अर्जुन! जो तुम्हें जानता है, वह मुझे जानता है, जो मुझ को जानता है, तुम्हें नहीं जानता है, मेरे मत में वह निकृष्ट है। मैं अपने को तुम से अभिन्न ही जानता हूँ। सर्वदा सान्निध्य में रहने के कारण एवं श्रीकृष्ण में ममतातिशय प्रयुक्त अर्जुन से कोई कोई यादव श्रेष्ठ हैं। भागवत (१०।८२।२८) हे भोजराज! मनुष्य लोक में आप सब का जन्म लाभ सार्थक है। कारण आपने योगिगण दुर्लभ श्रीकृष्ण का दर्शन निरन्तर किया है। (१०।९०।४६) श्रीकृष्ण में आविष्ट मनाः यादवगण शयन, उपवेशन, पर्यटन, आलाप, स्नान, क्रीड़ा, भोजनादि विषय में अपना देह-दैहिक सब कुछ सम्बन्ध को भूल गए थे। यादवगण के मध्य में उद्धव ही श्रेष्ठ हैं, (भा० ११।१४।१५)

सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥" 'त्वं तु भागवतेष्वहमिति' (११।१६।२९ । उद्धवादपि व्रजसुन्दर्य्यः श्रेष्ठाः, तेन तासां पादरेणु-मिश्रिततृणजन्म-प्रार्थनात्; तत् यथा श्रीदशमे (४७।६१)। 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दाबने किमपि गुल्मलतौषधीनां। या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा भेजु र्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यामिति।' तास्वपि श्रीराधिका श्रेष्ठेति पाद्मे-"यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा" इति। आदिपुराणे च 'त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दाबनं पुरी। तत्रापि गोपिका पार्थ! तत्र राधाभिधा ममेति।' तदेवं सर्वभगवत्प्रिय-परिकर-मूर्द्धन्यतया तस्या उपासनं सर्वतः श्रेष्ठमिति युक्तम्। बृहद्-गौतमीये तु परमरहस्यत्वेन परमफलत्वेन च मन्त्रध्यानादि-कथन-

---

हे उद्धव! तुम मेरा जिस प्रकार प्रियतम हो,— ब्रह्मा, शङ्कर, सङ्कर्षण, लक्ष्मी एवं मेरी मूर्त्ति भी उस प्रकार प्रियतम नहीं हैं। (११।१६।२९) भागवतगण के मध्य में तुम ही मेरी विभूति हो। इस उद्धव से भी व्रजसुन्दरीगण ही श्रेष्ठ हैं। कारण, उद्धव ने गोपीयों की पदरेणु मिश्रित तृण-जन्म की प्रार्थना की है। (भा० १०।४७।६१) गोपीगण दुस्त्यज स्वजन, पातिव्रत्य प्रभृति का परित्याग कर ही श्रुतिगण द्वारा अन्वेषणीय श्रीकृष्ण के पादपद्म की भजना किए हैं। अहो! वृन्दाबन में इन सब की चरणरेणु-सेवी गुल्मलता ओषधि के मध्य में कुछ भी जन्म होने पर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। गोपीगण के मध्य में श्रीराधा ही श्रेष्ठा है, उसका विवरण पद्मपुराण में है— जैसे श्रीराधा विष्णु की अतिशय प्रेयसी है, तद्रूप उनका कुण्ड भी विष्णु का परमप्रीत्यास्पद है। समस्त गोपिकागण के मध्य में एका श्रीराधा ही विष्णु की अतिशय वल्लभा है। आदिपुराण में वर्णित है—त्रैलोक्य में पृथिवी धन्या है, उस में वृन्दाबनपुरी धन्या है, उसमें राधानाम्नी मेरी प्रियागोपिका धन्यतमा है। सुतरां सर्व भगवत्प्रिय-परिकरवर्ग के मध्य में शिरोमणि स्वरूपा श्रीराधा की उपासना सर्वथा श्रेष्ठा है। वृहद्गौतमीय-तन्त्र में परमरहस्य,

पुरःसरं तस्या उपासनं प्रकटमेवोक्तमस्ति। तथाहि तत्र बलदेव-प्रश्नः—'यस्या माहात्म्यमतुलं कथितं मे त्वया प्रभो ! तस्या मन्त्रं पूजनञ्च ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ॥' श्रीभगवानुवाच–'रहस्यातिरहस्यं यत् कथ्यते तव यत्नतः। यस्य स्मरणमात्रेन स्वयं प्रेममयो भवेत्। तस्योद्धारमहं वक्ष्ये गोप्याद्गोप्यं महामते !' इति प्रतिज्ञाय मन्त्र-मुद्धृत्य न्यासध्यान-पुरश्चरणादीनि सर्वाणि मन्त्रोपासनाङ्गानि सफलानि कथितानि सन्तीति। तदित्थं श्रीकृष्णभजनादपि तस्या अत्यन्ताधिक्यं दर्शितम्। तस्याश्च मुख्यं भजनं श्रीकृष्णभजनमेवेत्याह —तस्याः प्राणबन्धोरिति। प्राणानां बन्धुः प्राणबन्धुः तद्रक्षौषधरूप स्तेभ्योऽप्यतिप्रेष्ठ इत्यर्थः, तस्याः यदुक्तं श्रीरूपगोस्वामिभिः (४० प्रेमेन्दुसुधा)—'निजप्राणार्वुदप्रेष्ठ कृष्णपादनखाञ्चलेति।' अत स्तदीयत्वाभिमान-पुरःसरं ततोऽप्यधिकप्रेम्णा तस्याः प्राणबन्धुः

परमफलद रूप में श्रीराधा के मन्त्र ध्यानादि की वर्णना पूर्वक उनकी उपासना प्रकट भाव से ही उक्त है। तथाहि बलदेव का प्रश्न, हे प्रभो ! आप ने जिस की अतुलनीय महिमा का वर्णन मेरे पास किया है, उनका मन्त्र, पूजाप्रणाली मैं स्वरूपतः जानना चाहता हूँ। श्रीभगवान् बोले—तुम्हारे प्रयत्न से में महारहस्य को भी व्यक्त करूँगा, इसका स्मरण से ही व्यक्ति प्रेममय होता है। हे महामते ! मैं उनका अति गोपनीय मन्त्रोद्धार को कहता हूँ। तत्पश्चात् प्रतिज्ञात मन्त्र उद्धार करके अङ्गन्यास, करन्यास, ध्यान पुरश्चरणादि यावतीय मन्त्र एवं फलादि सह सकल अङ्ग की विस्तार वर्णना उन्होंने किया। इस प्रकार कृष्णभजन से भी श्रीराधाभजन की समधिक उपादेयता प्रदर्शित हुई। श्रीराधा का मुख्यभजन श्रीकृष्ण भजन ही है, इस हेतु कहा है—श्रीराधा प्राणबन्धु इत्यादि। प्राण का बन्धु=प्राणबन्धु, प्राण रक्षा का औषध स्वरूप जीवातु, अर्थात् पञ्चप्राण से भी अतिप्रेष्ठ। श्रीपाद श्रीरूपगोस्वामीजी ने प्रेमेन्दु-सुधा में कहा है कि—निज प्राणार्वुद से भी कृष्ण पदनख के एक कोण भी श्रीराधा का परमप्रिय है। देखा भी जाता है कि,—

श्रीकृष्णो भजनीय इति स्थितं। दृश्यते च तदनुगतानां विशिष्टानां विशेषतः श्रीकृष्णनामकीर्त्तनादौ प्रवृत्तिः। तदेवं सर्वात्मना श्रीराधिकानुवृत्ति-पूर्वकं तद्बन्धुत्वेन श्रीकृष्णभजनं सर्वोत्तममिति सिद्धम्। अतः साधूक्तं श्रीराधाप्राणबन्धो श्चरणकमलयोः प्रेमसेवा साध्येति ॥२५॥

विग्रहस्त्वेवं—श्रीभिर्भगवत्प्रेयसीरूपाभि र्लक्ष्मीभिः, कवित्व-सङ्गीतादि-रूपाभिः सरस्वतीभि र्मेधा-सत्प्रतिभादिरूपाभिः बुद्धिभिः, धर्मार्थकामसम्पद्रूपाभि र्विभूतिरूपाभिः शोभारूपाभि श्चामर-व्यजनादि-श्रीकृष्णसेवोपकरणरूपाभि र्वेशरचनाभिश्च युक्ता राधा श्रीराधा, तस्याः प्राणबन्धुः श्रीराधाप्राणबन्धुः। तस्यै श्रिय आह व्याड़िः "लक्ष्मी-सरस्वती धी-त्रिवर्गसम्पद् विभूतिशोभासु, उपकरण-वेशरचनाविधासु च श्रीरिति प्रथितेति। तथा च वृहद्गौतमीयतन्त्रे —"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी

श्रीराधानुगत विशिष्ट व्यक्तिगण विशेषभाव से श्रीकृष्णनाम ग्रहण में प्रवृत्त होते हैं। अतएव निश्चित हुआ कि—सकल प्रकार से श्रीराधा के आनुगत्य से श्रीराधा बन्धु होने के कारण श्रीकृष्ण का भजन करना सर्वोत्तम है। अतएव सुष्ठु कहा गया है कि—श्रीराधा प्राणबन्धु के चरणकमल की प्रेमसेवा ही साध्य है ॥२५॥

"श्रीराधा प्राणबन्धु" शब्द का विग्रह-वाक्य इस प्रकार है, श्रीभगवत्प्रेयसी रूपा लक्ष्मीगण, कवित्वसङ्गीतादिस्वरूपा सरस्वती गण, मेधा-सत्प्रतिभादिरूप बुद्धिवृत्ति समूह धर्म, अर्थ काम एवं सम्पद्रूपा विभूतिगण शोभास्वरूप चामरव्यजनादि श्रीकृष्णसेवा के उपकरणरूप वेशरचनादि युक्ता ही श्रीराधा है, उनका प्राणबन्धु, श्रीकृष्ण है। अभिधान में श्री-शब्द का विविध अर्थ दृष्ट होता है, यथा—लक्ष्मी, सरस्वती, धी, त्रिवर्ग, सम्पत्, शोभा, उपकरण, वेश-रचना इत्यादि। बृहद्गौतमीय तन्त्र का "देवी कृष्णमयी" इत्यादि श्लोक का तात्पर्य में उक्त श्री-शब्द का भावार्थ मिलता है। श्रीकृष्ण जिस प्रकार मूल भगवान्, अतएव उनके अंशसमूह भी उन में

सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परेति," तत्र सर्वलक्ष्मीमयी सर्वलक्ष्मीस्वरूपेण श्रीकृष्णस्य मूलभगवत्त्वादुक्तन्यायेन तदंशानां तत्रान्तर्भाववत्तस्या अपि तत्प्रेयसीत्वेन मूललक्ष्मीत्वात्तदंश-भूतानां लक्ष्मीणां तस्यामन्त-र्भावाल्लक्ष्मीयोग स्तस्याः स्पष्टः। दीव्यति अक्षै र्वाकोवाक्यादिना च क्रीड़ति विजिगीषते चेति देवीत्यनेन सरस्वतीशालिनीत्वं बुद्धि-शालिनीत्वञ्च। परदेवतेत्यनेन त्रिवर्गसम्पद्युक्तात्वं; कृष्णमयी कृष्णस्वरूपा इत्यनेन विभूतियुक्तात्वं, सर्वकान्तिरित्यनेन शोभा-शालिनीत्वं। राध्यति आराध्यति कृष्णमिति कर्त्रर्थण्वुलि राधिके-त्यनेनोपकरणयोगः,परा सम्मोहिनीत्यनेन वेशरचनाशालिनीत्वमिति। प्रेम्णा सेवा प्रेमसेवा साक्षात् सेवेत्यर्थः। तस्या बन्धुता-प्रेमसेवयोः स्वरूपञ्च यथा श्रीरूपगोस्वामिकृतवृहद्ध्याने—

कोणेनाक्ष्णः पृथुरुचिमिथो हारिणा लिह्यमाना-
वेकैकेन प्रचुरपुलकेनोपगूढ़ौ भुजेन।

अन्तर्भुक्त हैं,—तद्रूप श्रीराधा भी उनकी प्रधाना प्रेयसी होने से आप ही मूल लक्ष्मी एवं उनमें उनकी यावतीय अंशाभूता लक्ष्मी-गण के स्पष्ट समावेश है, अतएव आप सर्वलक्ष्मीमयी हैं। पाशा-क्रीड़ा करती है, एवं वाकोवाक्य में जयेच्छु होने से आप देवी हैं, अतएव आप में सरस्वतीशालिनीत्व एवं बुद्धिशालिनीत्व विद्यमान है। परदेवता शब्द से धर्म, अर्थ, काम एवं सम्पद् युक्तता का बोध होता है। कृष्णमयी=कृष्णस्वरूप, अतएव विभूतियुक्तता, सर्वकान्ति=शोभाशालिनीत्व, राधिका=आराधिका, अतएव सर्व-विध कृष्णसेवा के उपकरणसम्पन्नात्व है। परासम्मोहिनी से=वेशरचनाशालिनीत्व का बोध होता है। प्रेम से सेवा=प्रेमसेवा, साक्षात् सेवा। श्रीराधा का बन्धुत्व एवं प्रेमसेवा के सम्बन्ध में श्रीरूपगोस्वामी कृत वृहद्ध्यान द्रष्टव्य है। जो सब मनोहर नेत्र-प्रान्त के द्वारा परस्पर के महारूपसागर का लेहन आस्वादन कर रहे हैं। परस्पर पुलकाञ्चित भुज द्वारा परस्पर आलिङ्गित हो रहे हैं, जो सब कृष्ण एवं पीत वसन परिधान किए हैं, एवं जो सब

गौरीश्यामौ वसनयुगलं श्यामगौरं वसानौ
राधाकृष्णौ स्मरविलसितोद्दामतृष्णौ स्मरामि ॥क॥
भृङ्गान् सुहृद्‌वदनगन्धभरेण लोलान्
लीलाम्बुजेन मृदुलेन निवारयन्त्या ।
उद्वीक्ष्यमानमुखचन्द्रमसौ रसौघ-
विस्तारिणा ललितया नयनाञ्चलेन ॥ख॥
चामराभनवमञ्जुमञ्जरी-भ्राजमानकरया विशाखया ।
चित्रया च किल दक्षवामयो वींज्यमानवपुषौ विलासतः ॥ग॥
नागवल्लिदलबद्धवीटिका-सम्पुटस्फुरितपाणिपद्मया ।
चम्पकादिलतया सकम्पया, दृष्ट-पृष्ठ-तटरूपसम्पदौ ॥घ॥
रम्येन्दुलेखा-कलगीतमिश्रितै वंशीविलासानुगुणै र्गुणज्ञया ।
वीणानिनाद-प्रसरैः पुरस्थया, प्रारब्धरङ्गौ किल तुङ्गविद्यया ॥ङ॥
तरङ्गदङ्ग्या किल रङ्गदेव्या, सव्ये सुदेव्या च शनैरसव्ये ।
श्लक्ष्णाभिमर्शेन विमृज्यमान-स्वेदाश्रुधारौ शिचयाञ्चलेन ॥च॥इति॥२६

कामविलास में महासतृष्ण हैं,—वह गौरीश्याम श्रीराधाकृष्ण का स्मरण कर रहा हूँ ॥क॥ प्रियतम-युगल के वदन की महासुगन्ध से चञ्चल अलिमाला को जो मृदुल लीलाकमल से निवारण करते हैं, वह ललिता रसराशिविस्तारी नयन के प्रान्तभाग के द्वारा उन के मुखचन्द्रमा उद्‌ग्रीव होकर निरक्षण कर रहें हैं ॥ख॥ विशाखा एवं चित्रा चामर तुल्य नवमञ्जुलता को हाथ से धारण कर वाम एवं दक्षिण दिक में रह कर विलासान्त में युगल को विलासभर से वीजन करती हैं ॥ग॥ चम्पकलता ताम्बूल वीटिका सम्पुट को करकमल में लेकर कम्पित कलेवर में उनके पृष्ठदेश में रह कर रूपसम्पत्ति का दर्शन कर रही है ॥घ॥ इन्दुलेखा के रमणीय कल-गान के साथ वंशी ध्वनि के अनुरूप वीणा वाद्य के झङ्कार से सम्मुखवर्त्तिनी गुणज्ञा तुङ्गविद्या उनके कौतुक को बढ़ा रही है ॥ङ॥ वामपार्श्व में कम्पित-देहा रङ्गदेवी एवं दक्षिण पार्श्व में सुदेवी अवस्थान पूर्वक अतिधीरे मृदु मृदु स्पर्शन से वस्त्राञ्चल द्वारा उनको

तदित्थमभ्यर्हितत्वात् प्रथमं ग्रन्थस्य फलं निरूपितम्। सम्प्रत्यधिकारिणं निरूपयिष्यन् तस्य दौर्लभ्य-कथनाय प्रेमसेवाया दौर्लभ्यं कथयन् तां विशिनष्टि-केशशेषाद्यगम्येति। को ब्रह्मा ईशः शिवः शेषश्च आदि-शब्दाल्लक्ष्मीप्रभृतयः तैरगम्या अप्राप्या। तथाहि (१०।१६।३६)—'यद् वाञ्छया श्री र्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता।' तथा (१०।४७।६०) 'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः। रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ, लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणामि'त्यादि श्रीभागवतवचनाद् राधाबन्धोः प्रेमसेवा लक्ष्मया अप्यगम्येति। अतो यदा ब्रह्मादि-पूज्याया स्तस्या एवागम्या, तदा किमुत वक्तव्यं ब्रह्मादीनामगम्येति, कैमुतिक-न्यायेन तेषामपि तदगम्यता लभ्यते।

स्वेदाश्रुधारा की मार्जना कर रही है ॥च॥२६॥

इस प्रकार से यह ग्रन्थ **सम्माननीय** हो रहा है, अतः प्रथमतः **ग्रन्थ का फल** निरूपित हुआ। सम्प्रति **अधिकारी** निरूपण करने के लिए प्रवृत्त होकर श्रीपाद ग्रन्थकार अधिकारी की दुर्लभता को कहने के हेतु प्रेमसेवा की ही दुर्लभता का वर्णन करते हैं। केशशेषाद्यगम्या—'क' शब्द से ब्रह्मा, ईश=शिव, शेष एवं लक्ष्मी प्रभृतियों की अप्राप्य यह प्रेमसेवा है। लक्ष्मी की दुष्प्राप्यता के सम्बन्ध में, तुम्हारी चरणरेणु का स्पर्श लाभ की आशा से तुम्हारी ललना (लक्ष्मी-कान्ता) सकल कामना को छोड़ कर नियमाबद्ध होकर सुदीर्घ काल तपस्या की है, किन्तु तथापि उसको प्राप्त कर न सकी। (१०।४७।६०) रासोत्सव में यह कृष्ण के भुजदण्ड द्वारा गृहीतकण्ठ व्रजसुन्दरीगण जिस प्रसाद का लाभ किये हैं, उसको नितान्त अनुरागिणी लक्ष्मी जी भी प्राप्त कर न सकी, कमलगन्धा स्वर्ग के नारीगण जब उसको प्राप्त कर न सकी, तब अन्य नारीयों की कथा ही क्या है? यह सब श्रीमद्भागवत के वचन से ज्ञात होता है कि—श्रीराधा प्राणबन्धु की प्रेमसेवा लक्ष्मी के लिए भी दुर्लभ है। अतएव ब्रह्मादि की आराध्या लक्ष्मी जिस को प्राप्त

किञ्च (७।९।२६)—'क्वाहं रजः प्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्, जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा। न ब्रह्मणो न च भवस्य न वै रमाया, यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसाद' इति श्रीप्रह्लादवाक्यात् यदा श्रीनृसिंहप्रसादोऽपि तेषु दुर्लभ स्तदा तदवतारिणः श्रीकृष्णस्य प्रसादस्त्वतिदुर्लभ एव। अतएव प्रेमसेवा सुतरामगम्येति। अपि च गोपीत्व-प्राप्तिं विना तदीयप्रेमसेवा न संभवति। ब्रह्मादीनान्तु गोपी-चरणरजःप्राप्तिरपि दुर्लभेति श्रूयते। तथाहि बृहद्वामने भृग्वादीन् प्रति ब्रह्मणो वाक्यं—'षष्टिवर्ष-सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा। नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये। तथापि न मया लब्धा स्तासां वै पादरेणवः॥' इति। अन्येषां तर्हि कथं वा लभ्येत्यपेक्षायामाह—व्रजचरितपरै र्गाढ़लौल्यैकलभ्येति। व्रजशब्देन मञ्चः क्रोशतीति

नहीं कर पाई है, वह सेवा ब्रह्मादि सब के लिए ही महादुर्लभ है, यह ही संसूचित हुआ। और भी (७।९।२६) हे ईश ! रजोगुणोत्पन्न तमोबहुल असुर कुल में उत्पन्न मैं कहाँ ? और आप की अनुकम्पा भी कहाँ ? ब्रह्मा, शिव, यहाँतक लक्ष्मी प्रभृति के मस्तक में जो कर-कमलार्पण रूप प्रसाद अर्पित नहीं होता है। कृपा पूर्वक उसको मेरे मस्तक में आपने अर्पण किया है !! प्रह्लाद के इस वाक्यानुसार जब श्रीनृसिंहदेव के प्रसाद प्राप्ति भी उन सबके लिए दुर्ल्लभ है, तब उन के अवतारी श्रीकृष्ण का प्रसाद की प्राप्ति तो अति दुर्लभ ही है, सुतरां इन सब के लिए प्रेमसेवा लाभ अति दुर्घट है। और एक कथा यह है कि—गोपीत्व प्राप्ति के विना तदीय प्रेमसेवा भी सम्भव-पर नहीं है। ब्रह्मादि के लिए तो गोपीचरणरजः प्राप्ती भी दुर्लभ है, वह सुना जाता है। वृहद्वामन पुराण में भृगु प्रभृति को ब्रह्मा कहे थे—प्राचीनकाल में नन्दगोप व्रजस्त्रीगण के पदरेणु प्राप्ति की आशा से मैंने ६० हाजार वर्ष तपश्चर्य्या की, किन्तु मैं उक्त रेणु प्राप्त कर नहीं पाया, तब अन्य व्यक्ति कैसे प्रेमसेवा प्राप्तकर सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं,—**व्रजचरितपरायण** व्यक्तिगण प्रगाढ़ लोलता मूल्य से ही उसको प्राप्त कर सकेंगे। यहाँपर व्रज शब्द से

न्यायेन तत्रस्था व्रजसुन्दर्य्यो लक्ष्यन्ते। तस्य चरितमाचरणं तासां श्रीकृष्णानुसरणमिति यावत्। तत्परै स्तत्परायणैः परमादरेण तासामाचरणमाचरद्भिचो रागानुगीयभक्तै रित्यर्थः। 'गोष्ठाध्वनिवहा व्रजा' इत्यमरः। तासामाचरणञ्चोक्तमादिपुराणे - 'भोगः स्वर्गः कुलाचारो विचारः सर्वकर्मसु। सर्वं विहाय भेजु र्मां गोप्य स्तासु तथा ह्यहम्।' तथा – 'निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते। ताभ्यः परं न मे पार्थ! निगूढ़प्रेमभाजनमिति।' तत्परता च विहितास्ति तत्रैव – 'गोपीभावेन मामेवं ये भक्ताः समुपासते। तेषु तास्विव तुष्टोऽस्मि सत्यं सत्यं वदाम्यहमिति।' एवमधिकारिणं प्रदर्श्य साधनमाह – गाढ़लौल्यैकेति। गाढ़मतिशयं यल्लौल्यं तासां भाव-माधुर्य्यादौ लोभविशेष स्तेनैकं केवलं लभ्या प्राप्या, 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरः। तद् यथा – नित्यं वृन्दाबनगतं श्रीकृष्णं प्रत्युपनिषदां प्रार्थनायां – 'कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः।

व्रजस्थ व्रजसुन्दरीगण ही लक्ष्य हैं। व्रजसुन्दरीयों का आचरण अर्थात् कृष्णानुसरण। **तत्परायण** अर्थात् परमादर के साथ उनके आचरण के अनुसार अनुष्ठानकारी रागानुगीय भक्तगण। सम्प्रति व्रजसुन्दरीगण का आचरण क्या है? उसको कहते हैं, (आदिपुराण में) गोपीगण जिस प्रकार ऐहिक भोग, स्वर्ग, कुलाचार, सर्व कर्म विचार इत्यादि सब को छोड़कर मेरा भजन किये हैं, मैं भी उस प्रकार उन सबका आश्रय ग्रहण किया हूँ। हे पार्थ! गोपीगण निज निज अङ्ग को मदीय भोगसाधन मानकर ही मार्जन-भूषण करती रहती हैं, कहो तो! उन सब को छोड़कर मदीय निगूढ़ प्रेम-पात्र और कोई हो सकते हैं? गोपीभाव तत्परता की कथा भी आदिपुराण में विहित है, जो सब भक्त गोपीभाव से मेरा भजन करता है, मैं उन सबके प्रति गोपी की भाँति सन्तुष्ट होता हूँ। वह बात मैं सत्य सत्य ही कहता हूँ। इस प्रकार से अधिकारी का निर्णय करने के बाद **साधन** को कहते हैं। गाढ़लोलता से ही केवल प्रेमसेवा लभ्य है। गाढ़=अतिशय, जो लौल्य=गोपीगण के

कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयं। यथा त्वल्लोकवासिभ्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि न स्तथा।' अत्र श्रीकृष्णवाक्यं – 'दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः। मयानुमोदितः सम्यक् सोऽपि भवितुमर्हतीति ॥'२७॥

'एक' शब्देन स्वीय-स्वजातीय-विजातीय-तटस्थविरुद्धाख्यानि पञ्चविधसाधनानि व्यावर्त्तन्ते। तत्र विरुद्धानि ज्ञानवैराग्यकर्मादीनि शुद्धभक्तिविरोधीनि, तद् यथा श्रीएकादशे (२०।३१) – 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायो श्रेयो भवेदिह ॥' तथा (११।११।३२) 'आज्ञायैव गुणान् दोषान् मया दिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत्

भावमाधुर्य्य में लोभविशेष, उससे ही केवल लभ्य=प्राप्य है। इस विषय में नित्य वृन्दाबन स्थित श्रीकृष्ण के निकट उपनिषद्गण की प्रार्थना ही प्रमाण है,—हे कृष्ण! कन्दर्पकोटिलावण्यविजयी तुम्हारे दर्शन से मेरा मन कामिनी भाव से विभावित होकर निश्चय ही काम से मोहित हो गया है। गोकुल वासिनीगण जिस प्रकार रमण बुद्धि से कामतत्त्व के द्वारा तुम्हारा भजन करती हैं, हम सब भी उस भाव से तुम्हें प्राप्त करने के लिए उत्कट वासना पोषण करती हूँ। इसके उत्तर में श्रीकृष्ण बोले थे—हे श्रुतिगण! तुम्हारे मनोरथ उत्तम ही है, किन्तु वस्तु अति दुर्लभ एवं दुर्घट है, मेरा अनुमोदन से वह भी सम्यक् फलद होगा ॥२७॥

"लौल्येक लभ्या" यहाँपर एक पद का प्रयोग है, उस की व्यावृत्ति देते हैं। एक शब्द से **स्वीय, स्वजातीय, विजातीय, तटस्थ विरुद्ध** नामक पञ्चविध साधन ही निराकृत हुआ। तन्मध्ये विरुद्ध साधन—ज्ञान, वैराग्य, कर्म, प्रभृति शुद्धभक्ति विरोधी है। (भा० ११।२०।३१) अतएव भक्ति निरपेक्ष एवं अन्य साधन भक्ति सापेक्ष होने के कारण-भक्तिनिष्ठ मदेकचित्त योगी ज्ञान एवं वैराग्य के बिना ही इस जगत में श्रेयः लाभ कर सकता है। (११।११।३२) भगवान् धर्मशास्त्र में कर्त्तव्य रूप में वर्णन किये हैं, उसका गुण-दोष विचार पूर्वक उसका

स च सत्तम' इति। ननु 'ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः। क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥' इति श्रीभागवतोक्तेः (३।२५।४३), 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारण'मिति विष्णुपुराणाच्च ज्ञानवैराग्यादीनां भक्त्यङ्गत्व प्रतीतेः कथं तेषां भक्तिविरोधित्वमिति चेदुच्यते—'ज्ञानवैराग्ये'त्यादि वचनानां ज्ञान मिश्रादिभक्तिपरत्वात्, अन्यथा प्रागुक्त-'मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादीनां 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' (गीता १८।६६) इत्यादीनाञ्च शुद्धभक्ति-प्रतिपादकवचनानां भिन्नविषयतापत्तेः। अयमत्राभिसन्धिः—परस्पर-विरुद्धानां वचनानां विषय-विभागार्थं भक्तेः कर्ममिश्रादिभेदान् कल्पयन्त्यभियुक्ताः। यत्तु मुनिभिः परस्परविरुद्धमिवोच्यते, तच्चाधिकारि भेदविवक्षया ; एवं सति यत्र

त्याग कर जो जन केवल मेरा भजन करता है, वह व्यक्ति सत्तम है। **आशङ्का**—योगीगण क्षेम परममङ्गल लाभ के लिए ज्ञान, वैराग्य युक्त भक्तियोग द्वारा मेरा अकुतोभय पादपद्म की शरण लेते हैं। भागवत के (३।२५।४३) इस वचन से एवं परमपुरुष विष्णु वर्णाश्रमाचार युक्त व्यक्ति के द्वारा आराधित होते हैं, वस्तुतः वर्णाश्रमाचार व्यतीत विष्णु सन्तुष्टि का अन्य कोई उपाय नहीं है,—विष्णुपुराण के इस वाक्य से भी ज्ञान वैराग्य—भक्ति का ही अङ्ग है, यह प्रतिपादित होने पर क्यों उसको भक्ति विरोधी कहा गया है ? **समाधान**—पूर्वोक्त ज्ञान वैराग्य (३।२५) इत्यादि एवं सर्वधर्म परित्याग पूर्वक केवल मात्र मेरी शरण लेना, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त करूँगा। इत्यादि गीतोक्त (१८।६६) शुद्धभक्ति प्रतिपादक वचनावलि को भिन्न विषयक है, यह मानना आवश्यक होगा। यहाँपर उद्देश्य यह है—परस्पर विरुद्ध-वचन समूह को विभक्त करने के लिए पण्डितगण भक्ति का ज्ञान-कर्म मिश्रादि विभेद को स्वीकार पण्डितगण करते हैं। मुनिगण,—जो परस्पर विरुद्धवत् वाक्य कहते हैं—उसका उद्देश्य ही है, अधिकारी भेद का प्रतिपादन

यत्र कर्मादीनां भक्त्यङ्गत्वं श्रूयते, तानि तानि वचनानि कर्ममिश्रादि-भक्तिपराणि, तद्दास्यायैव नान्यपन्था स्तत्तोषकारक इत्याद्युक्तिः, यत्र तु 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'त्यादौ कर्मादीनां भक्त्यङ्गत्वं निषिध्यते, तानि शुद्धभक्तिपराणीति। किञ्च कर्ममिश्रादिभक्ते र्यथायथं सालोक्यादिमुक्तिः फलं। तद्‌यथा श्रीविष्णुपुराणे 'परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्। तमाराध्य हरिं देवं मुक्तिं प्राप्नोति दुर्लभा'मिति ; शुद्धभक्ते स्तु भगवद्दास्यप्राप्तिः, तद् यथा प्रथमस्कन्धे (८।३६) 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजमि'ति। कर्मादि-फलानां प्राप्तिस्तु शुद्धभक्तेरवान्तरफलं, तद् यथा (११।२०।३२-३३)—'यत् कर्मभि र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च

करना। ऐसा होनेपर जहाँ जहाँ पर भक्ति को ज्ञान-कर्म को भक्ति का अङ्ग कहा गया है, वहाँ कर्म मिश्रादि भक्ति को ही जानना होगा, इस कर्ममिश्र भक्ति को पुष्ट करने के लिए ही, अन्य उपाय से विष्णु का तोषण नहीं होता है, इत्यादि वाक्य कहा गया है। जहाँपर "सर्वधर्म परित्याग पूर्वक" इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्मादिक को भक्ति का अङ्गरूप से स्वीकार नहीं करते हैं, वे सब वाक्य शुद्धिभक्ति प्रतिपादक हैं, यह जानना होगा। दूसरी और—कर्ममिश्रादि भक्ति का यथार्थ फल है सालोक्यादि मुक्ति। श्रीविष्णु पुराण में उक्त है,—जो परमतत्त्व, परमविग्रह, एवं परब्रह्म नराकृति हैं, उन श्रीहरि की आराधना करके मानव दुर्लभ मुक्ति प्राप्त कर सकता है। किन्तु शुद्धभक्ति का फल, भगवत् दास्य प्राप्ति है। यथा (भा० १।८।३६)—हे कृष्ण ! जो सब व्यक्ति आप का चरित्र, श्रवण, गान, उच्चारण, स्मरण करता है, अथवा कोई कीर्त्तन करने से उसे सुनकर आनन्दित होता है। वे सब सत्वर ही जन्म परम्परा निवारक आप के चरणारविन्द का दर्शन करते हैं। शुद्ध भक्ति का अवान्तर (आनुषङ्गिक) फल रूप में कर्मादि से भी फल प्राप्ति होती है। यथा (११।२०)—विविध कर्म सम्पादन से, तपश्चर्या से, ज्ञान

यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छती'ति। अतः साधनकाले व्यवधानकर्त्तृत्वाद् विसदृशफल-दत्वाच्च ज्ञानादीनि शुद्धभक्ति-विरोधीनि विरुद्धसाधनानि। एतान्यपि श्रेष्ठमध्यादिभेदात्त्रिविधानि। तत्र कृष्ण-तद्भक्तकृपया ज्ञाननिष्ठानां शुद्धभक्ति-सम्भवाद्विरुद्धेषु ज्ञानं श्रेष्ठं, एवं वैराग्यदग्धानामपि घुणाक्षर-न्यायेन तद्सम्भवाद् वैराग्यं मध्यमं, कर्मजड़ानान्तु कदापि भगवद्भागवतकृपाया असम्भवात् न शुद्धभक्तिगन्धोऽपीति कर्म कनिष्ठमिति। तदुक्तमाकरे [भ,र,सि,पू० १।२५] 'भवेत् कदाचित् कुत्रापि नन्दसूनोः कृपाभरः। प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि योऽत्रैव रतिमुद्वहेत्।' तथा [भ,र,सि,द ५।१११ ११२] 'फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हैतुकाः। मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वाद बहिर्मुखाः।

वैराग्य से, योग से, दानधर्म से एवं अन्यान्य मङ्गल कर कार्यानुष्ठान से जो फल लाभ होता है, उक्त समस्त फल ही मेरा भक्त भक्तियोग के बल से शीघ्र प्राप्तकर लेता है। स्वर्ग हो, अपवर्ग हो, भगवद्धाम हो, अथवा किसी प्रकार की वाञ्छा हो, भक्ति बल से भक्त सत्वर प्राप्त कर लेता है, अतएव साधन काल में शुद्धभक्ति का व्यवधान होता है, एवं उत्तर काल में विसदृश मुक्ति प्रभृति फल लाभ होने के कारण ही ज्ञानादि शुद्ध भक्तिविरोधी,—विरुद्ध साधन है। यह सब श्रेष्ठ, मध्य, कनिष्ठ भेद से त्रिविध हैं। तन्मध्य में कृष्ण एवं कृष्ण-भक्त की कृपा से ज्ञान निष्ठ साधक की शुद्धभक्ति लाभ भी कभी सम्भव होता है, अतः विरुद्ध साधन के मध्य में ज्ञान ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार वैराग्यदग्ध-हृदय वाले का भी घुणाक्षर न्याय से भक्ति लाभ की सम्भावना होनेसे वैराग्य भी मध्यम है। किन्तु कर्मजड़ के प्रति कभी भगवत् एवं भागवत की कृपा होने की सम्भावना नहीं है, अतः उसमें शुद्धभक्ति की गन्ध का लेशभी नहीं है। अतएव काम्यकर्म कनिष्ठ साधन है। रसामृत में उक्त है,—कभी भी किसी के प्रति श्रीनन्दनन्दन की कृपा होती है तो, वह प्रथम ज्ञाननिष्ठ होने पर भी

इत्येष भक्तिरसिकै श्चौरादिव महानिधिः। जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा' इति। किन्तु ज्ञानिनो भक्तिमार्ग-प्रवेशे शान्तिरतावेव प्रवेशः, कदाचिद्दास्यरतौ वेति। राधाबन्धोः प्रेम-सेवायामत्यन्तविरुद्धमेव तत्। किञ्च 'शिवे च परमेशाने विष्णौ च परमात्मनि। समबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते ते वै भागवतोत्तमा' इत्यादि वृहन्नारदीयवचनप्रामाण्यादन्यदेवताभजनमपि कर्ममिश्रादिभक्ते-रेवाङ्गं, न तु शुद्धभक्तेरित्यवगन्तव्यं 'यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म-रुद्रादिदैवतैः। समत्वेनापि मन्येत स पाषण्डी भवेद् ध्रुव'मिति वैष्णवागमवचनविरोधापत्तेरिति ॥२८॥

तटस्थ-साधनानि वैधभक्त्यङ्गानि, तानि चोक्तानि आकरे [भ, र, सि, पूर्व, २।४३] यथा— गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादि-

---

पश्चात् श्रीकृष्ण प्रीति प्राप्त करता है। जो लोक भक्ति विषय में उदासीन होकर केवल वैराग्य मात्र को अवलम्बन किया है, जो लोक शुष्क ज्ञानी है भक्ति के प्रति निरादर अथच तर्क मात्र में निष्ठा पर है, कर्म वादी मीमांसक (कर्मवादी एवं निर्विशेष ब्रह्मवादी है,)—वे सब ही भक्ति रस के आस्वादन में वहिर्मुख हैं। अतएव चौर से जिस प्रकार महानिधि की रक्षा करनी पड़ती है, तद्रूप भक्ति रसिकगण भी पूर्व-मीमांसक से भक्ति रसको सर्वदा रक्षा करें। ज्ञानिगण भक्तिमार्ग में प्रविष्ट होने से शान्ति रति में ही प्रविष्ट होता है, दास्य रति प्राप्त करने की सम्भावना हो सकती है, किन्तु राधा प्राणबन्धु की प्रेमसेवा में वह अत्यन्त विरुद्ध ही है। और एक कथा यह है कि—परम ईशान शिव एवं परमात्मा विष्णु में समबुद्धि स्थापन पूर्वक जो लोक साधन में प्रवृत्त होते हैं—वे सब ही भागवतोत्तम हैं,— वृहन्नारदीय वचन प्रमाण से अन्य देवता भजन भी कर्ममिश्रादि भक्ति का अङ्ग है, शुद्ध भक्ति नहीं है,— यह जानना होगा, कारण—जो व्यक्ति देव नारायण को ब्रह्म-रुद्रादि देवगण के समान मानता है, वह निश्चय ही पाषण्डी है, यह वैष्णवागमवचन के साथ पूर्व-कथित वृहन्नारदीय वचन का विरोध होता है ॥२८॥

शिक्षणम् । विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ॥ सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे । निवासो द्वारकादौ च गङ्गादेरपि सन्निधौ ॥ व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्त्तिता । हरिवासर-सम्मानो धात्र्यश्वत्थादि गौरवम् ॥ एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता । सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैः जनैः ॥ शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः । बहुग्रन्थकलाभ्यास-व्याख्यावादविवर्जनम् । व्यवहारेष्वकार्पण्यं शोकाद्यवशवर्त्तिता । अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता । सेवानामापराधानामुद्भवाभावकारिता । कृष्णतद्भक्त-विद्वेष-विनिन्दाद्यसहिष्णुता । व्यतिरेकतयामीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः । अस्या स्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः । त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकं । धृति वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च । निर्म्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः । अभ्युत्थानमनुव्रज्या

तटस्थ साधन—वैध भक्ति के अङ्ग समूह हैं, रसामृत में सब के नाम, स्वरूप, उदाहरणादि उक्त है। (१) गुरुपादाश्रय, (२) कृष्ण दीक्षा ग्रहण, (३) विश्वास के साथ गुरुसेवा, (४) सदाचार-रक्षा, (५) सद्धर्म विषय में जिज्ञासा, (६) भोगत्याग, (७) द्वारकादि अथवा गङ्गा के समीप देश में निवास (८) यावत् निर्वाह प्रतिग्रह, (९) हरिवासर सम्मान, (१०) धात्री, अश्वत्थ, गो, विप्र प्रभृति की पूजा, साधन भक्ति के प्रारम्भ स्वरूप यह दश हैं। (११) अवैष्णव सङ्ग त्याग, (१२) अनधिकारि शिष्यकरण त्याग, (१३) महत् आरम्भ में (निर्माण विषय में) निरुद्यमता, (१४) बहु ग्रन्थ कलाभ्यास वर्जन, (१५) व्यवहार में अकृपणता, (१६) शोकादि की अवशीभूतता, (१७) अन्य देव-निन्दा त्याग, (१८) प्राणी मात्र के प्रति उद्वेग प्रदान न करना, (१९) सेवापराध एवं नामापराध का वर्जन, (२०) कृष्ण एवं कृष्णभक्त की निन्दा का सहन न करना, इस दश अङ्ग का अनुष्ठान करना। विंशति अङ्ग प्रवेश के लिए द्वार स्वरूप होने पर भी गुरुपादाश्रयादि तीन अङ्ग ही प्रधान है। (२१) वैष्णव चिह्नधारण (२२) देह में नामाक्षर धारण, (२३) निर्माल्य धारण, (२४) भगवदग्रे

गतिस्थाने परिक्रमा। अर्चनं परिचर्य्या च गीतं संकीर्त्तनं जपः। विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः। धूपमाल्यादि-सौरभ्यं श्रीमूर्त्तेः स्पृष्टिरीक्षणम्। आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणं। स्मृति र्ध्यानं तथा दास्यसख्यमात्मनिवेदनम्। निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम्। सर्वथा शरणापत्ति स्तदीयानाञ्चसेवनं। तदीय-तुलसीधात्री-मथुरावैष्णवादयः। यथावैभवसामग्री सद्गोष्ठिभि-र्महोत्सवः। ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु। श्रद्धा विशेषतः प्रीति श्रीमूर्त्तेरङ्घ्रि-सेवने। श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह। सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे। नाम-सङ्कीर्त्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः॥ अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च। निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र शंसनम्। इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः। चतुःषष्टिः पृथक्साङ्गातिकभेदात्

नृत्य, (२५) दण्डवत् प्रणति, (२६) श्रीकृष्ण विग्रह दर्शन से अभ्यु-त्थान, (२७) अनुव्रजन, (२८) भगवत् स्थाने गमन, (२९) परिक्रमा, (३०) अर्च्चन, (३१) परिचर्य्या, (३२) गीत, (३३) संकीर्त्तन, (३४) जप, (३५) विज्ञप्ति, (३६) स्तव पाठ, (३७) नैवेद्यास्वादन, (३८) चरणामृत आस्वादन, (३९) धूप-माल्यादि की सौरभ घ्राण, (४०) मूर्त्ति स्पर्शन, (४१) श्रीमूर्त्ति दर्शन, (४२) आरात्रिक उत्सव दर्शन, (४३) श्रवण, (४४) भगवत् कृपानिरीक्षण, (४५) स्मरण, (४६) ध्यान, (४७) दास्य, (४८) सख्य, (४९) आत्मनिवेदन, (५०) प्रिय वस्तु का दान, (५१) कृष्णार्थे निखिल चेष्टा, (५२) सर्वथा शरणापत्ति (५३) तदीय तुलसी सेवन, (५४) भागवत सेवा, (५५) मथुरादि की सेवा, (५६) वैष्णवसेवा, (५७) भक्तगण के सहित जन्मयात्रा महोत्सव, (५८) कार्त्तिक नियमसेवा, (५९) श्रीकृष्ण जन्मयात्रा, (६०) श्रद्धा पूर्वक श्रीमूर्त्ति सेवा, (६१) रसिक के सङ्ग में भागवतार्थास्वादन, (६२) साधुसङ्ग, (६३) नाम-कीर्त्तन, (६४) मथुरा मण्डल में बास। शेषोक्त पाँच अङ्ग का कथन पहले होने से भी अन्यान्य अङ्ग से इस पाँच का प्राधान्य समझने के लिए यहाँपर पुनर्बार कहा गया है।

क्रमादिमाः ॥" इति—एतान्यपि पूर्ववत् त्रिविधानि—तत्र श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण-ध्यान-परिचर्य्या-दास्यभेदकैङ्कर्य्य-सख्यभेद-मित्र-वृत्ति-श्रीमूर्त्तिदर्शन-स्पर्शनादीनि श्रेष्ठानि। एषां झटिति रत्युत्पादनद्वारा लोभोत्पादकत्वेन रागानुगाङ्गेष्वपि प्रवेशात्। तदुक्तमाकरे [भ,र, सि, पूर्व २।१५२] 'श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्तुचदितानि तु। यान्यङ्गानि तु तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः।' एभ्यः किञ्चिद्-विलम्बेन रत्युत्पादकान्यर्चनवन्दनादीनि मध्यमानि; तेभ्योऽपि विलम्बेन रत्युत्पादकानि सद्धर्मपृच्छा धात्र्यश्वत्थादिगौरवादीनि कनिष्ठानीति। एषां च वक्ष्यमाणसजातीय-विजातीयेभ्यो वैलक्षण्यात् तटस्थत्वं, साक्षात्प्रीतिपोषकत्वाभावान्न स्त्रीयेष्वन्तर्भावः; साक्षात् परम्परया वा रत्युत्पादनद्वारा लोभसाधनत्वान्न विरुद्धेष्वन्तर्भावः। तदुक्तमाकरे [भ,र,सि, पूर्व साधन १४८] तत्तद्भावादि-माधुर्य्ये श्रुते

इस प्रकार क्रमशः पृथक् एवं समष्टि रूप में शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण द्वारा साध्य ६४ अङ्ग की उपासना कहते हैं। यह सब भी विरुद्ध साधनवत् त्रिविध है—उसके मध्य में श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, ध्यान, परिचर्या, दास्य का अवान्तर भेद कैङ्कर्य है, सख्यभेद ही मित्रता है, श्रीमूर्त्ति के दर्शन-स्पर्शनादि श्रेष्ठ है। कारण यह सब अतिशीघ्र प्रीति उत्पन्न करके लोभ उत्पन्न करते हैं एवं रागानुगीय मार्ग में भी अन्तर्भुक्त होते हैं। रसामृत में कथित है,—वैधी भक्ति में श्रवण कीर्त्तनादि जो भक्ति की बात कही गई है, पण्डितगण रागानुगा मार्ग में भी उस उस अङ्ग की निज निज अधिकारि के अनुरूप उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इस की अपेक्षा कुछ विलम्ब से रति उत्पादक अर्चन, वन्दनादि मध्यम, उसकी अपेक्षा भी विलम्ब में रति का उत्पादक सद्धर्म जिज्ञासा, धात्री-अश्वत्थादि का सम्मानादि कनिष्ठ है। ये सब वक्ष्यमाण सजातीय विजातीय साधन से पृथक् होकर तटस्थ कहलाते हैं। कारण साक्षात् रूप से प्रीति का पोषक नहीं है, अतः ये सब निज साधन के मध्य में अन्तर्भुक्त नहीं हुए। साक्षात् परम्परा भाव से रति उत्पादन हेतु

धो यदपेक्षते । नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणं । वैध-भक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधि । अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनु-कूलमपेक्षते । इति । भावाविर्भावनावधिरत्युत्पत्तिपर्य्यन्तं. शास्त्रं विधिवाक्यं तदनन्तरं नापेक्षते इत्यर्थः । न च तदनपेक्षायां दोषो मन्तव्यः, तत्फलस्य लोभस्य जातत्वात् । तदुक्तमेकादशे (२०।३६) 'न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषाद्भवा गुणाः ॥' इति, किञ्च—वैध-भक्त्यधिकारिणां प्रायशो दास्यभक्तावेव लोभो जायते, तथाहि तेषां महिमज्ञानयुक्तः प्रेमा जायते, तेन च साष्टर्यादिमुक्तिरित्युक्तमाकरे [रसामृत पूर्व ४।७]। ततश्च दासानां महिमज्ञानमस्त्येवेत्युक्तमधस्तात् सार्ष्टिपदवाच्यं समानैश्वर्य्यञ्च तेषां संभवेदेव । 'श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य ते मेऽश्नुवते नु लोके' इति कपिलोक्तेः (भा०

लोभ-साधकत्व है, अतएव ये सब विरुद्ध साधन के मध्य में गण्य नहीं हैं। रसामृत में उक्त है—व्रजवासिगण के भाव-माधुर्य को सुनकर शास्त्रयुक्ति निरपेक्ष बुद्धिवृत्ति से उसको प्राप्त करने की जो वासना होती है, उसको लोभ कहते हैं। जब तक भाव का आविर्भाव नहीं होता है, तब तक ही वैधी भक्ति का अधिकार है। इस वैधी भक्ति में अनुकूल शास्त्र एवं युक्ति की अपेक्षा है, इस से बोध होता है कि—रति उत्पत्ति पर्यन्त ही विधिवाक्य की प्रयोजनीयता है, उसके बाद अनुशासन की आवश्यकता नहीं है। तब तो लोभ ही उसका सञ्चालक होता है । शास्त्र की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहने से उनमें दोष नहीं होता है, कारण शास्त्रीय शासन का फल ही लोभ का प्रादुर्भाव है। (भा० ११।२०।३६) विहित एवं प्रतिषिद्ध गुण एवं दोष से उद्भुत पापपुण्यादि मेरा एकान्त भक्त को स्पर्श नहीं करते हैं। और एक कथा यह है कि—वैधी भक्ति में अधिकारी का प्रायकर दास्य भक्ति में लोभ होता है, उससे उन सब का महिमा ज्ञानयुक्त प्रेम होता है, एवं उससे सार्ष्टि प्रभृति मुक्ति होती है, रसामृत (पूर्व ४।७ में) उक्त है। सुतरां दासगण में भी महिमा ज्ञान रहता ही है, एवं सार्ष्टि-पदवाच्य समान ऐश्वर्य भी हो सकता है।

३।२५।३७)। अन्यथा सिद्धान्तविरोधापत्तेश्च। तथा ह्याकरे [लघुभा० १।२११] 'भक्ते रव्यभिचारायाः प्रेमसेवैव यत्फलं। तादृशब्रह्मभावस्तु विद्वेषेणापि लभ्यते ।।' इति ।।२९।।

अथ विजातीय-साधनं सम्बन्धानुगा भक्तिः, सा यथाकरे [रसामृते पूर्व २।१५९] 'सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि। या पितृत्वादि-सम्बन्धमननारोपणात्मिकेति।' एषापि त्रिविधा दास्यानुगा, सख्यानुगा, वात्सल्यानुगा चेति। अत्रानुकूले क्रमेणोत्तमादिभेदो ग्राह्यः। तथाहि विजातीयसाधनेषु सख्यानुगा भक्तिः श्रेष्ठं साधनं, राधाबन्धोः प्रेमसेवासाधनस्य लोभस्यानुकूलत्वात्। दास्यानुगा मध्यमं तटस्थत्वात्, वात्सल्यानुगा कनिष्ठं। प्रतिकूलत्वात् इति ।।३०।।

कारण श्रीकपिलदेव ने कहा है कि—भक्ति के साहचर्य से ही मुक्ति होती है। भक्त ही मुक्त है। यह मुक्त व्यक्ति अविद्या निवृत्ति के पश्चात् मेरी माया रचित सत्य लोकादिगत भोग सम्पत्ति एव भक्ति के पश्चात् स्वयं उपस्थित अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य, भागवती श्री, वैकुण्ठ की सार्ष्टि सम्पत्ति एवं ब्रह्मानन्द सुख भोग के प्रति उन की स्पृहा न होने पर भी, वैकुण्ठ लोक में उपस्थित होकर उस भोग को अनायास प्राप्त करता है। अन्यथा वैधी भक्तगण की सार्ष्टि प्रभृति मुक्ति प्राप्ति न होने पर सिद्धान्त विरोध अनिवार्य है। लघुभागवतामृत में उक्त है—अव्यभिचारिणी भक्ति का फल केवल प्रेमसेवा है, ब्रह्म में विलीन होकर अवस्थान रूप ब्रह्मभाव तो श्रीकृष्ण के द्वारा निहत दैत्यगण भी प्राप्त करते हैं ।।२९।।

विजातीय साधन—सम्बन्धानुगा भक्ति है। रसामृत में (पूर्व २।१५९) पण्डितगण सम्बन्धानुगा भक्ति उसको कहते हैं, जिस में साधकगण अपने में भगवान् के पितृत्वादि सम्बन्ध के अभिमान को सविशेष रूप से चिन्ता करके आरोप करते हैं। यह साधन भी त्रिविध है,—दास्यानुगा, सख्यानुगा, एवं वात्सल्यानुगा। यहाँपर अनुकूल होने पर क्रमशः उत्तमादि त्रिविध भेद भी ग्राह्य है।

अथ सजातीयसाधनं कामानुगाभेद-सम्भोगेच्छामयी भक्तिः, सा यथाकरे [भ,र,सि,पूर्व २।१५३-४] 'कामानुगा भवेत् तृष्णा कामरूपानुगामिनी। सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा॥ केलितात्पर्य्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत्। तद्भावेच्छात्मिका तासां भावमाधुर्य्यकामिता॥ इति, तद्भावेच्छात्मिकाया अपि मुख्य-गौणभेदेन द्वैविध्याद् गौणतद्भावेच्छात्मिका सजातीयसाधनमेव। तथाहि कामरूपा रति र्द्विविधा; कामप्राया, कामैकरूपा चेति। तत्र कुब्जायारतिः कामप्राया तदनुगा भक्तिः सम्भोगेच्छामयी; व्रजसुन्दरीणां रतिः कामैकरूपा, तदनुगा भक्तिः तद्भावेच्छात्मिका। कामैकरूपापि द्विविधा, मुख्या गौणी चेति। तत्र प्रागुदाहृत 'गोप्यः पप्रच्छु' रित्यग्निपुराणवचनात् 'नांशोऽप्यन्यत्र राधायाः प्रेमादिगुण-सम्पदां। रसेनैव विपक्षादौ मिथः साम्यमिवार्प्यते॥ इत्याकर

विजातीय साधन के मध्य में सख्यानुगा भक्ति श्रेष्ठ है, कारण राधा बन्धु की प्रेमसेवा साधन में लोभ की सहायता करती है। दास्यानुगा —मध्यम साधन है, कारण यह तटस्थ अनुकूल अथवा प्रतिकूल नहीं है। और वात्सल्यानुगा प्रतिकूल होने से कनिष्ठ साधन है ॥३०॥

सजातीय साधन—कामानुगा भेद से सम्भोगेच्छामयी भक्ति है। कामरूपा भक्ति की अनुगता जो तृष्णा है, उसको कामानुगा कहते हैं। वह सम्भोगेच्छामयी, एवं तत्तद्भावेच्छामयी भेद से द्विविध है। संप्रयोग केलि में तात्पर्य होने पर संभोगेच्छामयी एवं स्वयूथेश्वरी के भावमाधुर्य की कामना होने से तत्तद् भावेच्छामयी होती है। द्वितीय—मुख्य गौण भेद से द्विविध है,—गौणतद्भावेच्छामयी भक्ति ही सजातीय साधन है। कामरूपा भक्ति द्विविध है,—कामप्राया एवं कामैकारूपा। तन्मध्य में महिषी कुब्जा की रति—कामप्राया है, तदनुगा भक्ति ही सम्भोगेच्छामयी है। व्रजसुन्दरीगण की रति कामैकरूपा है, तदनुगता भक्ति ही तद्भावेच्छात्मिका है। कामैक-रूपा भी मुख्य एवं गौण भेद से द्विविध है। उस में पहले उदाहृत "गोप्यः पप्रच्छुः" गोपियों ने पुछी—इत्यादि अग्निपुराण के संवाद

[उज्ज्वल, हरिवल्लभा ३५] वचनाच्च श्रीराधिकारति मुख्यकामैक-रूपा, तदनुगा भक्ति मुख्यतद्भावेच्छात्मिका। इयमेव गाढ़लौल्य-पदेन गृहीता ; अन्यथा गाढ़पदस्य वैयर्थ्यात्, श्रीराधाबन्धो श्चरण-सेवाबिशेषणे प्रविष्टत्वाच्च, 'सविशेषणे हि विधि निबेधौ विशेषणमुप-संक्रामतः' इतिन्यायात्। ततो न्यूनान्यव्रजसुन्दरीमात्राणां रति गौणकामैकरूपा, तदनुगा भक्ति गौणतद्भावेच्छात्मिका इति। एवं वैधसाधनवती महिषीरत्यनुगा रिरंसा च स्वजातीयसाधनमेव।

से, एवं श्रीराधा के प्रेमादि गुण सम्पत्ति राशि के एक अश भी अन्यत्र चन्द्रावली श्यामला प्रभृति में नहीं है, किन्तु स्वयं रस पुष्टि के निमित्त राधाचन्द्रावली का भाववैजात्य होने पर भी विपक्षादि में तुल्य प्रमाणता की पुष्टि होती है। उज्ज्वल के वचनानुसार श्रीराधिका की रति ही मुख्य कामैकरूपा है। सुतरां तदनुगा भक्ति ही मुख्यतद्भावेच्छात्मिका है। इसको ही मूल श्लोक में 'गाढ़लौल्य' पद से निर्देश किया गया है। अन्यथा श्रीराधा की रति के आनुगत्य का बोध न होने से 'गाढ़' पद का प्रयोग व्यर्थ होता है एवं उक्त 'गाढ़' पद भी श्रीराधाबन्धु के चरण सेवा का विशेषण में प्रविष्ट है, कारण न्याय प्रसिद्ध है कि—विशेषण युक्त विशेष्य की बाधा होने पर विधि अथवा निषेध विशेषण में ही उपसंक्रामित होता है। विशेषण युक्त विशेष्य पद बाधित होने पर विधि एवं निषेध विशेषण में उपसंक्रान्त होता है, जिस प्रकार 'घटाकाशमानय, नान्याकाश' यहाँपर विशेष पद आकाश का आनयन असम्भव प्रयुक्त आनयन एवं निवारण बिधि एवं निषेध होने से घटादि रूप विशेषण में उपसंक्रान्त हुआ, अर्थात् घट का आनयन कर, यह बोध हुआ। यहाँपर भी उस प्रकार विशेष जो सेवा है, वह ही केवल साध्य नहीं है, गाढ़लौल्यैकलभ्या इस विशेषण में श्रीराधा का भावानुगत्यरूप जो गाढ़लौल्य, वह ही साध्य रूप से निर्दिष्ट हुआ। अन्यान्य व्रज-देवीगण की रति श्रीराधा रति से न्यूना है, वह ही गौणकामैक रूपा एवं तदनुगता भक्ति ही गौण तत्तद्भावेच्छामयी है। इस प्रकार

यदुक्तमाकरे [भ,र,सि, पूर्व २।१५७] रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधि-मार्गेण सेवते। केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे ॥' तथा च महाकौर्मे—'अग्निपुत्रा महात्मान स्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्त्तारञ्च जगद्योर्नि वासुदेवमजं विभुमित्य'त्र टीका च—'तपसा विधिमार्गेण अत्र विधिमार्गोपलक्षणत्वेन वासनादिभेदोऽपि ज्ञेयः' इत्येषा। तदेवं सजातीयसाधनं त्रिविधं—तत्र समर्थारत्यनुगात्वेन गौणतद्भावे-च्छात्मिका मुख्यं सजातीयं, सम्भोगेच्छामयी साधारणरत्यनुगात्वात् कनिष्ठमपि रागानुगात्वान्मध्यमं सजातीयं, रिरंसा तु समञ्जसारत्यनु-गात्वान्मध्यमं भवितुमर्हत्यपि वैधसाधन सम्वलितत्वेन केलितात्पर्य-वत्वेन कनिष्ठमेव सजातीयं साधनमिति। साधारण्यादिभेदो यथा आकरे [उज्ज्वले स्थायिभाव २९] "साधारणी निगदिता समञ्जसासौ समर्था च। कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमशः॥

वैधसाधनयुक्ता महिषी रति की अनुगा रिरंसा भी सजातीय साधन ही है। रसामृत में उक्त है—जो सुष्ठु रमणाभिलाषी होकर विधि मार्ग में महिषीकान्तमय ध्यान से मन्त्रादि द्वारा यहां तक कि—वल्लवीकान्तत्वमय ध्यान मन्त्रादि के द्वारा भी केवल व्रज भाव लिप्सा को छोड़कर सेवा करता है, वह द्वारका में कुछ काल के वाद महिषीत्व अर्थात् उनके आनुगत्य को प्राप्त करेगा। महाकूर्म पुराण में कथित है—महात्मा अग्नि पुत्रगण विधि मार्ग से सेवा करके स्त्री देह को प्राप्त किये थे. एवं अज जगत्कारण वासुदेव को पति रूप से प्राप्त किये थे। मूल 'तपसा' शब्द से विधि मार्ग ही लक्ष्य है, एवं उसमें वासनादि भेद भी अन्तर्निहित है। ऐसा होने पर सजातीय साधन भी त्रिविध हुआ। समर्था रति की अनुगता गौण तद्भावेच्छात्मिका मुख्य सजातीय है, सम्भोगेच्छामयी साधारणी रति की अनुगा होने से कनिष्ठा होने पर भी रागानुग युक्त होने से मध्यम सजातीय है, रमणेच्छा किन्तु समञ्जसा रति की अनुगता होने से मध्यमत्व योग्य होने से भी वैधसाधन युक्तता एवं केलि तात्पर्यवत्ता में कनिष्ठ सजातीय साधन है। इसके भेद समूह

मणिवच्चिन्तामणिवत् कौस्तुभमणिवत्रिधाभिमता। नातिसुलभेय-मभितः सुदुर्लभा स्यादनन्यलभ्या चेति।"३१॥

अथ स्वीय-साधनानि, तानि च कामानुगाभेद-तत्तद्भावेच्छात्म-भक्त्यपरपर्य्यायस्य गाढ़लौल्यस्यैव साधनानि—स्वाभीष्टलीलाकथा-सक्ति--व्रजवसति-बाह्यसेवा-मानससेवा श्रीमूर्त्तिमाधुरीदर्शनाख्यानि। एतेषां व्यावर्त्तनेऽयमभिप्रायः-यथा श्रवणादिभक्तिर्ज्ञानसाधनं भवदपि स्वातन्त्र्येण ज्ञानफलस्य मोक्षस्यापि साधनं भवति, एवं तत्तत्कथा-सक्त्यादीनि लोभ-साधनानि भवन्त्यपि लोभफलस्य स्वसेवाया अपि स्वातन्त्र्येण साधनानि भवेयुरिति। तानि यथाकरे [भ,र,सि, पूर्व, साधन १५०] "कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितं। ततत्-

---

उज्ज्वल में निरूपित हैं। रति—कुब्जा, महिषी, एव व्रजदेवीगण में क्रमशः साधारणी, समञ्जसा, समर्था भेद से मणिवत् चिन्ता-मणिवत् एवं कौस्तुभमणिवत् त्रिविध होती है। मणि जिस प्रकार सुलभ नहीं है, उस प्रकार कुब्जादि व्यतीत साधारणी रति भी सर्वत्र सुलभ नहीं है। जिस प्रकार चिन्तामणि सर्वथ सुदुर्ल्लभ हैं, तद्रूप द्वारका महिषीगण को छोड़कर समञ्जसा रति भी अन्यत्र महादुर्ल्लभ है। फिर से कौस्तुभमणि जिस प्रकार श्रीकृष्ण व्यतीत अन्यत्र कुत्रापि लभ्य नहीं है, तद्रूप गोपीगण व्यतीत समर्था रति कहीं लभ्य नहीं है॥३१॥

स्वीय साधन कहते—कामानुगा का अवान्तर भेद तद्भावेच्छात्म भक्ति का अपरपर्याय "गाढ़लौल्य का ही साधन सूचित होता है। (१) स्वाभीष्ट लीलाकथासक्ति, (२) व्रज में वास, (३) बाह्य देह से सेवा, (४) मानस देह से सेवा, (५) श्रीमूर्त्ति की माधुरी का दर्शन इत्यादि ही स्वीय साधन है। इस सब को व्यावृत्त करने का अभिप्राय यह है कि—जिस प्रकार श्रवणादि भक्ति ज्ञान-साधन होने पर भी स्वतन्त्र भाव से ज्ञानफल मोक्ष का भी साधन बनती है, तद्रूप स्वाभीष्ट लीलाकथासक्ति प्रभृति लोभसाधन होने पर भी लोभफल निज सेवा का भी स्वतन्त्र रूपसे साधन हो सकते हैं, स्वीय साधन के सम्बन्ध में

कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं व्रजे सदा ॥" (१५१) सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि । तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ॥ तथा (पूर्व २।१५५) "श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीला निशम्य वा । तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्यु स्तेषु साधनतानयोः" इति । अनयोरिति द्विविध-कामानुगयोः । एतेषां निरतिशयमाहात्म्यस्य साधारण्येन यद्यपि नातीव तारतम्यं, तथापि स्वस्वकार्य्यकरत्वे सापेक्षनिरपेक्ष-त्वादेतल्लक्षणेन केनाप्यंशेन घटेतापि चेत् । तथाहि स्वीयसाधनेषु तत्तत्कथारतिः श्रेष्ठं, अन्यनिरपेक्षतयापि क्षिप्रफलजनकत्वात्, अन्येषां तत्सापेक्षत्वाच्च ; श्रीमूर्त्तिमाधुरीदर्शन-सेवाद्वयञ्च मध्यमं, सकृन्मात्रतत्तत्कथा-सापेक्षत्वाद्,व्रजवसति-निरपेक्षत्वाच्च व्रजवसतिः कनिष्ठं, तस्याश्चतुर्णामेकतमस्य नित्यमपेक्षणीयत्वात् । स्फुटञ्चे-

---

रसामृत में उक्त है—कृष्ण का एवं निजाभीष्ट तत्प्रियतम भक्त का स्मरण करके त्तकथा में निरत होकर समर्थ होने से शरीर द्वारा श्रीवृन्दाबनादि धाम में वास करें, अगत्या मन के द्वारा भी व्रज में वास करना उचित है । साधक रूप में यथावस्थित देह से, एवं सिद्ध रूप से अन्तश्चिन्तित देह से व्रजस्थ निजाभीष्ट कृष्ण प्रियवर्ग के भावलिप्सु होकर उनके आनुगत्य से सेवा में प्रवृत्त होवे । श्रीमूर्त्ति का माधुर्य्य सन्दर्शन करके जो लोक भावाकाङ्क्षी होते हैं, वे सब व्यक्ति ही द्विविध कामानुगा भक्ति का अधिकारी हैं ।

इन सब के निरतिशय माहात्म्य के विषय में यद्यपि अधिक तारतम्य नहीं है, तथापि निज निज कार्यकरी रूप से सापेक्षत्व निरपेक्षत्व का विचार करने पर किञ्चित् तारतम्य किसी किसी अंश में हो सकता है । निज साधन समूह के मध्य में तत्तत् कथा रति ही श्रेष्ठ है, कारण यह अन्य किसी साधन की अपेक्षा न करके ही शीघ्र फल दान करती है । किन्तु अपर चार, इस की अपेक्षा करते हैं । श्रीविग्रह की माधुरी का दर्शन (वाह्य देह एवं मानस देह से) एवं सेवाद्वय मध्यम साधन है, कारण इस में एकबार मात्र लीलाकथा श्रवण की अपेक्षा है एवं व्रजवास की कोई अपेक्षा नहीं है।

तदाकरे प्रतीयते, तत्तत्कथारतश्चासावित्यत्र तत्तत्कथारतत्वस्याधि-कारिविशेषणत्वेन तत्र निर्देशात्। तेनैव अतत्तत्कथारतः सन् व्रज-वासादिकं कुर्य्यादित्यर्थसिद्धया सर्वेषां तत्तत्कथारति-सापेक्षत्वाव-गमात्; इतरथा तु तत्तत्कथारतिं कुर्य्यादित्येवोक्तं स्यात्। अत्रापि व्रजवासस्य निकटे तत्पाठ स्तस्यां तत्तत्सापेक्षत्व-ख्यापनाय। एवञ्च तत्तत्कथारतेरधिकारि-विशेषणत्वे त्वङ्गत्वं न स्यादित्याशङ्कय तल्लीलां निशम्य वेति पुनरङ्गत्वेन निर्देश इति। तट्टीकाकृद्भिस्तु कण्ठरवेणैवोक्तं यथा तत्तत्कथारतिस्तु श्रेष्ठं साधनं, विनाप्यन्यै स्तेनैव कार्य्यसिद्धे रित्यलमियता। तत्र श्रीमूर्त्तिदर्शनस्य लोभ-साधनत्वं पाद्मोत्तरखण्डीय कार्त्तिकमाहात्म्ये प्रबोधनी-निशायां

व्रज वसति—कनिष्ठ साधन है, कारण पूर्वोक्त साधन चतुष्टय की नित्य अपेक्षा करती है। रसामृत में यह भाव परिव्यक्त ही हुआ है,—"तत्तत्कथारतः" अधिकारी का विशेषण रूप में यह पद निर्दिष्ट हुआ है। उसका अर्थ यह है कि—लीलाकथादि में निरत होकर ही व्रजवास प्रभृति करना कर्त्तव्य है, सुतरां उक्त साधन चतुष्टय के प्रत्येक में ही लीलाकथा निषेवण की प्रयोजनीयता का बोध होता है। ऐसा न होने पर मूल श्लोक में तत्तत कथा में रति करना उचित है—ऐसा लिखा होता। यहाँपर व्रजवास के निकट में कथा रति का पाठ—उसको ही सूचित करता है। अन्यान्य साधन चतुष्टय उक्त कथा रति की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार "तत्तत्कथारति" अधिकारी का विशेषण (निरूपक) होने पर भी इसको अङ्ग नहीं कहा जा सकता है,—इस प्रकार आशङ्का करके पुनर्वार 'उस उस लीलाकथा का श्रवण करके' (रसामृत पूर्व २।१५५) इत्यादि वाक्य में अङ्ग रूप में ही निर्दिष्ट हुआ है। उसकी टीकाकार श्रीपाद श्रीजीव भी साक्षात् रूप से कहे हैं कि—"तत्तत्-कथारति" किन्तु श्रेष्ठ साधन है, कारण अन्यान्य साधन व्यतिरेक से भी इससे कार्यसिद्धि होती है।

श्रीमूर्ति का दर्शन जा लोभ साधन है, उसको पद्मपुराण के उत्तर

श्रीमूर्त्तेरग्रतो नृत्यन्त्या श्चन्द्रकान्तिनाम्नया गन्धर्वकन्याया वृत्तान्ते—"बह्वीष्वन्यासु नारीषु मय्येवाधिकप्रीतिमान्। नृत्यत्यसौ मया सार्द्धं कण्ठाश्लेषादिभावकृत्। इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका। हरिप्रीत्या च सर्वां तां रात्रिमेवात्यवाह्यत्॥ न पतिं कामयेत् कश्चित् ब्रह्मचर्य्यस्थिता सदा। तामेव मूर्त्ति ध्यायन्ती चन्द्रकान्ति वरानना। श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा। अस्मिन् मन्वन्तरे स्निग्धा श्रीकृष्णप्रियवार्त्तयेति। एवमन्येषामुदाहरणान्यूह्यानि। इयञ्च चन्द्रकान्तिः श्रीकृष्णप्रेमशिक्षाद्यर्थं केनाप्यंशेन गृहीतावतार श्रीराधैव, तदुक्तमभियुक्तैः [प्रेमेन्दुसुधा ११।१२] 'गोविन्दप्रेमशिक्षार्थनटीकृत-निजांशका। प्रबोधनीनिशानृत्यमाहात्म्य-भरदर्शिनी। चन्द्रकान्तिचरी सर्वगन्धर्वकुलपावनी'ति; अन्यथा तस्या

के खण्ड के कार्त्तिक माहात्म्य में प्रबोधनी-रात्रि में श्रीमूर्त्ति के सामने नृत्यपरायण चन्द्रकान्तिनामिका गन्धर्व कन्या के विवरण से सूचित करते हैं। "श्यामसुन्दर अनेक नारी के मध्य में मेरे प्रति अधिक प्रीतिमान् होकर कण्ठालिङ्गनादि भाव के साथ मेरे साथ नृत्य कर रहे हैं।" बाला चन्द्रकान्ति इस मनोरथ वहन करके ही नृत्यकौतुकी हो गई थी, एवं श्रीहरि की प्रीति से सर्वरात्रि का जागरण करी, उसने किसी पति की कामना भी नहीं करी, सदाकाल ब्रह्मचर्य में अवस्थित रही। उस मूर्त्ति का ध्यान करके सुन्दर वदना चन्द्रकान्ति,—श्रीकृष्ण-गाथा को गाते गाते रोमाञ्चव्याप्त होगई थी। इस मन्वन्तर में उस चन्द्रकान्ति श्रीकृष्ण की प्रिय-वार्त्ता का आस्वादन करके स्निग्धा रसाप्लुता होगई थी। इस प्रकार अनन्य साधन का उदाहरण भी जानना होगा। श्रीराधा हा श्रीकृष्ण प्रेमशिक्षादि दान करने के लिए अंश विशेष के द्वारा चन्द्र-कान्ति रूप में अवतीर्ण हुई थी। अभिज्ञवर श्रीपाद श्रीरूपगोस्वामी चरण ने कहा है—जगत् में गोविन्द प्रेमशिक्षा प्रदान हेतु जिन्हों ने (राधा ने) निज अंश विशेष को नटी स्वरूप किया, जिस ने प्रबोधनी एकादशी की रात्रि में जागरण पूर्वक नृत्य-गीतादिका माहात्म्य का

नित्यप्रियात्व-विरोधात्; तद् यथा बृहद्गौतमीये- "सत्वं तत्त्वं परत्वञ्च तत्त्वत्रयमहं किल। त्रितत्त्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा। प्रकृतेः पर एवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी।" तथा— 'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा।' इति, सत्त्वं कार्य्यतत्त्वं, तत्त्वं कारणतत्त्वं तयोः कार्य्यकारणयोः परत्वञ्च यत्र तत्तत्त्वत्रयमित्यर्थः ॥३२॥

ननु 'सा स्यात् प्राप्ता यया तामि'त्यनेन मानससेवाया अपि प्रेमसेवाकरणत्व प्रतीयत इति चेन्न, लिङ् प्रयोगेन सम्भावनामात्रस्यैवोक्तत्वात्, यया मानस्या सेवया लोभोत्पादनद्वारा सा प्रेमसेवा प्राप्ता स्यादिति हि तस्यार्थः। तदेवमेकशब्दव्याख्यातानि पञ्चविधसाधनानि व्याख्यातानि। अत्रेदं बोद्धव्यं—विरुद्धसाधनानि ज्ञानादीनि

प्रदर्शन किया। जो पहले अंशत: चन्द्रकान्ति रूप में विराजमाना थी एवं तज्जन्य समस्त गन्धर्व कुल को पवित्र किया। अन्यथा साधनसिद्धा चन्द्रकान्ति ही यदि श्रीराधा होगी तो श्रीराधा की नित्य प्रेयसीत्व का विरोध होगा। श्रीराधा नित्य कान्ता है, इसका विवरण बृहद्गौतमीय तन्त्र में लिखित है।—सत्त्व= कार्यत्व, तत्त्व=कारणत्व, एवं परत्व=कार्यकारण तत्त्व से अतीत, यह तत्त्व त्रयात्मक मैं हूँ, मेरी प्रेयसी राधा भी त्रितत्त्व रूपिणी है। जिस प्रकार मैं प्रकृति से अतीत हूँ, श्रीराधा भी मेरी शक्ति स्वरूपिणी एवं देवी (द्योतमाना) कृष्णमयी, आराधिका, परदेवता, सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी एवं परा ही श्रीराधा है। इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है ॥३२॥

"जिस से वह प्रेमसेवा मिलती है"—मूल श्लोक की इस उक्ति से मानसी सेवा भी प्रेमसेवा का करण रूपसे प्रतीत होती है, इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है। कारण मूल श्लोक में "स्यात्" इस क्रिया पद में विधिलिङ् विभक्ति प्रयुक्त होकर सम्भावना मात्र ही द्योतित होती है। उसका अर्थ यह है—जिस मानसी सेवा से लोभोत्पादन द्वारा उस प्रेमसेवा की प्राप्ति हो सकती है। अबतक 'लौल्यैक' पदस्थ

सर्वथा हेयानि, तटस्थविजातीयस्वेष्टसाधनानि तु लोभसाधनत्वेन यथोत्तरमुपादेयान्येव। एतेषां साक्षात् प्रेमसेवासाधनत्वस्यैव निषिद्धत्वात्, परम्परया तु यथायथं प्रेमसेवा-साधनत्वमस्त्येवेति। ननु गाढ़लौल्यशब्देन तद्भावेच्छात्मिका कामानुगा व्याख्याता, सा च साधनभक्तिः, अतस्तत्साध्यप्रेम्न एव प्रेमसेवासाधकतमत्वं युज्यते, न तु तेनान्यथासिद्धायास्तस्याः, व्यक्तञ्चैतत प्रागुदाहृतचन्द्रकान्त्यु-

---

'एक' शब्द की व्यावृत्ति (निषेध) रूपसे पञ्चविध साधन की व्याख्या हुई। यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि—ज्ञानादि विरुद्ध साधन समूह सर्वतोभाव से हेय है ; तटस्थ विजातीय, एवं स्वेष्ट साधनावलि लोभ-साधन होने के कारण उत्तरोत्तर उपादेय ही है। साक्षात् रूप से इस सब की प्रेमसेवा का साधनत्व निषिद्ध हुआ है, परम्परा से किन्तु सब की यथोचित साधनता है। **आशङ्का**—'गाढ़लौल्य शब्द से तद्भावेच्छात्मिका कामानुगा की व्याख्या हुई है, उसमें साधनभक्ति, सुतरां उक्त कामानुगा साधनभक्ति साध्य प्रेम का ही प्रेमसेवा का साधकतमत्व (करणत्व) युक्ति युक्त हो सकता है। अर्थात् उक्त साधनभक्ति साध्य प्रेम ही प्रेमसेवा का करण हो। किन्तु इस प्रकार से साध्यप्रेम अन्यथा सिद्ध * प्रेमसेवा का साधन नहीं हो सकता है। पहले उदाहृत चन्द्रकान्ति के उपाख्यान वचन से

---

* न्याय के मत में जो पदार्थ न होने पर भी कार्य की सिद्धि दूसरी प्रकार से होती है, वह उस कार्य के लिए अन्यथासिद्ध होता है। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करता है, इसकी मिट्टी गधा लाता है, गधा से न लाकर दूसरे प्रकार से भी मिट्टी लाई जा सकती है। इस लिए घट कार्य के प्रति गर्दभ अन्यथा सिद्ध है। किसी भी कार्य के लिए पूर्ववर्त्ति जिस की आवश्यकता नितान्त है, उसको कारण कहते हैं। उस कारण का विशेष भेद ही अन्यथा सिद्ध है। यह पाँच प्रकार है,—कार्य होने के लिए जिस का पहले रहना एकान्त आवश्यक है, उसको छोड़कर सब अन्यथासिद्ध है। जिस प्रकार घट हेतु मृत्तिका, जल, दण्ड, चक्र, चीवर, प्रभृति की आवश्यकता होने पर भी मृत्तिका वहन के लिए, गर्दभादि की विशेष आवश्यकता नहीं है,—अतः गधा अन्यथा सिद्ध है।

पाख्यानीय वचनेऽस्तीति चेत् सत्यं, प्रेम्नोऽवान्तर-व्यापारत्वमङ्गीकृत्य कामानुगायाः प्रेमसेवाकरणत्वमुक्तमिति सर्वं सुस्थम्। तत्रान्यथासिद्धिलक्षणं 'अवश्यक्लृप्तनियत-पूर्ववर्त्तिन एव कारणसम्भवे तद्भिन्नं सर्वमन्यथासिद्धमिति, करण-लक्षणं त्वत्र पूर्वपक्षेऽनन्यथासिद्धनियत-पूर्ववर्त्तिकारणं करणमिति। सिद्धान्ते तु व्यापारवत् कारणं करणमिति ज्ञेयमिति। तस्मात् साध्ववादि—गाढ़लौल्यैकलभ्येति ॥३३॥

वैधमानससेवाया व्यावर्त्तनाय प्रासङ्गिकीं मानसीसेवां विशिनष्टि—

यह सुव्यक्त हुआ है। अर्थात् वह चन्द्रकान्ति कामानुगा साधनभक्ति करण से प्रेमसेवा की प्राप्ति की थी। **समाधान**--सत्य है, प्रेमका अवान्तर करणत्व अङ्गीकार करके कामानुगा का प्रेमसेवा करणत्व स्थापित हुआ है। इस व्याख्या से सर्व आशङ्का का निरसन हुआ है। पूर्व पक्ष का अन्यथा सिद्ध का लक्षण—अवश्य सामर्थ्ययुक्त नियत पूर्ववर्त्तित्व ही, सम्भव होनेसे भी जो कार्यका अनुत्पादक है, वह अन्यथासिद्ध है। जैसे घट के विषय में रासभादि,—कुम्भकार घट निर्माण कर रहा है, उस समय यदि गधा आकर खड़ा हो जाय, तब उसको घट का जनक नहीं कहा जायेगा। गर्दभ घट निर्माण कर नहीं सकता है। पूर्व पक्ष का करण लक्षण—अन्यथा सिद्धि शून्य नियत पूर्ववर्त्ति कारण ही करण है। सिद्धान्त पक्ष में जो करण व्यापार को निष्पन्न करता है, उसको करण कहा जाता है। + सुतरां प्रेमसेवा—गाढ़लौल्यैकलभ्या है ॥३३॥

वैध मानस सेवा का व्यावर्त्तन हेतु प्रासङ्गिक मानसी सेवा का

+ व्याकरण मत में—क्रियानिष्पत्ति का व्यापारयुक्त कारण को करण कहा जाता है। जिस प्रकार "दात्रेण धान्यं लुनाति" दात्र द्वारा धान्य छेदन कर रहा है। इस वाक्य में हस्त छेदन कार्य का कारक होने पर भी दात्र संयोग का प्राधान्य से ही कार्य निष्पन्न होगा, अत्र दात्र का ही करण कारकत्व सिद्ध हुआ।

क्रियायाः परिनिष्पत्ति र्यद्व्यापारादनन्तरम्।
ववक्ष्यते यदा यत्र तत् करणमुदाहृतम् ॥ हरिकारिका ॥

भाव्यां रागाध्वपान्थैरिति। रागाध्वा रागानुगा-भक्तिमार्ग स्तत्र ये पान्थाः पथिका स्तै र्भाव्यां चिन्तयितुं योग्यां, 'सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्रही'त्यत्रोक्तां श्रीहरिमाधुर्य्यैकभक्त-व्रजवासितत्प्रेष्ठ-जनभावलुब्धे रन्तश्चिन्तितेन स्वाभीष्टतत्-प्रेष्ठजनानुगतेन तत्सेवौ-पयिकेन निजाभीप्सित-प्राप्यदेहेन विरचितामेव, न तु विधिबलेन प्रवर्त्तमानैरनेनैव (रसामृते पूर्व २।७६) देहेन मानसैः षोड़शोपचारा-दिभि विरचितामित्यर्थः। अत्र प्रमाणञ्चाकरधृतपुराणवचनं यथा— 'मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा। परे वाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे॥" इति उपचारोऽत्र चामरव्यजनादिरूपः, न तु षोड़शोपचारादिलक्षणः, परिचर्य्येति वचनात्; अन्यथा पूजयित्वेत्येवोक्तं स्यात्; अतएवैकवचनञ्च येन केनाप्येकेनोपचारे-णेत्यर्थः। आकरे [भ,र,सि, पू २।७६] च—सेवाध्यानमेवोदाहृतमिदं

विशेषण प्रदान करते हैं—रागाध्वपान्थगण के द्वारा भाव्य। "रागाध्वा" शब्द से रागानुगा मार्ग है, उसके पथिकगण की चिन्ता योग्य मानसी सेवा। "साधक रूप से एवं सिद्ध रूप से सेवा करना कर्त्तव्य है" इत्यादि वचन से उक्त श्रीहरि के माधुर्य्य रस के भक्त व्रजवासि-कृष्णप्रियतम जन के भाव-लाभ से अन्तश्चिन्तित अर्थात् स्वाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ जन की अनुगत प्रेमसेवा के उपयोगी निजाभीष्ट प्राप्य देह से सम्पादित जो सेवा—वह ही एकमात्र लक्ष्य है। किन्तु विधि से—शास्त्र शासन से प्रवर्त्तमान यथावस्थित वाह्य देह द्वारा सम्पादित मानस षोड़श उपचार से विरचित होने पर वह प्रेमसेवा का अनुकूल नहीं है। इसका प्रमाण रसामृत पूर्व २।७६ में धृत पुराणान्तर वचन से सुस्पष्ट है। मानसोपचार से हरि की परिचर्या करके कोई व्यक्ति अवाङ्मनोगोचर श्रीहरि का साक्षात्कार किए हैं। यहाँ पर उपचार शब्द से चामर व्यजनादि को जानना होगा। किन्तु षोड़शोपचारादि अभिप्रेत नहीं है, कारण मूल श्लोक में परिचर्या का उल्लेख है, षोड़श उपचार अभिप्रेत होने पर पूजा शब्द लिखित होता। इस लिए 'उपचारेण' इस शब्द में एकवचन

पद्यं ; किञ्च वाङ्मनसयोरगम्यं साक्षात् प्रतिपेदिरे इति दुर्लभ-लाभोक्त्या शीघ्रप्राप्तुचक्त्या च रागातिशयो ध्वन्यते, तेन च तत्-प्रियजनानुगत्यादि सर्वं लभ्यत एव। अनुगतिमात्रे वचनान्तरञ्च यथा श्रुतिस्तुतौ (१०।८७।२३)—'निभृतमरुन्मनोक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्। स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥' इति, अस्यार्थः—स्त्रियो व्रजसुन्दर्य्यः ते तव अङ्घ्रिसुधा श्चरणार-विन्दप्रेममयमाधुर्य्याणि ययुः ; वयमपि समदृशः, समा दृक् ज्ञानं भावो यासां तथाभूता सत्यः समास्ताभिस्तुल्यतां प्राप्ता गोप्यो भूत्वा तवाङ्घ्रिसरोजसुधां ययिमेत्यर्थः। एवं प्रागुदाहृते (पृष्ठायां ६५) 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यत्र 'यथा तल्लोकवासिन्य' इत्यत्र (पृः ६६)

व्यवहृत होकर जिस किसी उपकरण को समझाता है। रसामृत में उक्त श्लोक सेवाध्यान का ही उदाहरण रूप से उद्धृत है। और एक कथा है—वाक्य मन के अगोचर वस्तु की साक्षात् प्राप्ति की है, इससे दुर्लभलाभ एवं शीघ्र प्राप्ति का इङ्गित होनेसे रागातिशय ही ध्वनित हुआ है, एवं इससे ही कृष्णप्रियजनानुगत्य इत्यादि सकल अनुष्ठान का संग्रह हुआ है। अनुगति मात्र के लिए अन्य वचन भी दिखाते हैं। (भा० १०।८७।२३) श्रुतिस्तुति में—मुनिगण निर्जन में प्राणायाम योग से निःश्वास जयी होकर मन एवं इन्द्रिय समूह को दृढ़ योगनिष्ठ करके हृदय में आप का ध्यान करते हैं, शत्रुगण भी शत्रु भाव से ब्रह्म का ध्यान कर ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, व्रजनागरी गण भी तुम्हारे भुजग-देह सदृश भुजदण्ड के सौन्दर्य रूप उग्रविष से हतबुद्धि होकर तुम्हारे चरणकमल की सुधा को प्राप्त किए हैं, हम सब भी गोपीदेह प्राप्त कर गोपीभाव से भजन कर तुम्हारे पादपद्म की सुधा का आस्वादन कर रही हूँ। इस प्रकार गोपीभाव से जो लोक भजन करता है, मैं उसके प्रति गोपियों की भाँति सन्तुष्ट होता हूँ। यह मैं सत्य सत्य ही कहता हूँ। इस प्रकार श्रुतिगण की प्रार्थना—गोकुलवासिनीगण जिस प्रकार कामतत्त्व से रमणबुद्धि

च तदनुगतिरनुसन्धेयेति। अपि च 'गोपीभावेन ये भक्ता' इत्यत्र पुंलिङ्गनिर्द्देशात् पुंसामप्यस्यां भक्तावधिकारः। पाद्मे तु स्पष्ट-मेवोक्तं यथा—'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्-भूताश्च गोकुले। हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादिति।' रामं दृष्ट्वा श्रीकृष्णं भोक्तुमैच्छन् पूर्वं गोपालोपासकत्वात्तेषामित्यर्थः॥

॥३४॥

अथ रागाध्वनो वैशद्याय तत्प्रपञ्चमाकरात्लिख्यते। 'अन्याभि-लाषिताशून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति-रुत्तमा॥ सा भक्तिः साधनं भाव प्रेमा चेति त्रिधोदिता। कृति-

---

लेकर तुम्हारा भजन करती हैं, हम सब भी उस भाव से ही तुम्हें प्राप्त करना चाहतीं हूँ। इससे भी गोपी आनुगत्य ही सूचित है। अधिकन्तु "गोपीभाव से जो भक्तगण" इस वाकच में पुंलिङ्ग का निर्देश होनेसे पुरुषगण भी इस भक्ति का अधिकारी हैं, ऐसा निर्देश दिया गया है। पद्मपुराण में तो स्पष्ट ही उक्त है—पुराकाल में दण्डकारण्यवासी महर्षिगण श्रीगोकुलस्थ श्रीकृष्ण प्रेयसीगण के अनुगत वासना विशिष्ट होकर श्रीरामचन्द्र को देखकर उनसे भी अधिकतर सुन्दर देह श्रीकृष्ण को गोकुल में गोपी स्वरूप से उपभोग करने की वासना किए थे। रामचन्द्र साक्षात् रूप से उन सबको कुछ न कहने पर भी किन्तु कल्पवृक्ष स्वरूप उनसे वर प्राप्त कर देशान्तरस्थ गोपी गर्भ से स्त्री देह प्राप्त करने के बाद विवाह सूत्र से व्रज में आये थे एवं संकल्प मात्र से ही श्रीहरि को प्राप्त कर भवार्णव से मुक्त हो गये थे। अर्थात् प्रपञ्चागोचर में परमानन्द को प्राप्त किए थे॥३४॥

सम्प्रति रागमार्ग के वृत्तान्त को परिष्कार करने के उद्देश्य से उसकी विस्तृत वर्णना रसामृत से लिखित हो रहा है। श्रीकृष्ण सम्बन्धि अथवा श्रीकृष्णके निमित्त अनुकूल अनुशीलन को सामान्यतः भक्ति कहते हैं। यह अनुशीलन, ज्ञान एवं कर्मादि के द्वारा अनावृत

साध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा। नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥ वैधी रागानुगा चेति द्विधा सा साधनाभिधा। यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥ विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु। रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥ रागानुगा-विवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते। इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्। तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥ सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा। सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वतां॥ यद्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः। इयन्तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते। आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीं। तत्तत्क्रीड़ा-निदानत्वात् काम इत्युच्यते बुधैः। इत्युद्धवादयोऽप्येनं

एवं अन्य वस्तु के प्रति स्पृहाविहीन होनेसे ही उत्तमा भक्ति होती है। यह भक्ति साधन, भाव, प्रेम भेद से त्रिविध हैं। इन्द्रियगण की प्रेरणा अर्थात् श्रवण दर्शनादि द्वारा साधनीय भक्ति को ही साधनभक्ति कहते हैं। नित्यसिद्ध के भाव का जीव हृदय में प्रकट होना ही साध्यता है। वैधी एवं रागानुगा भेद से साधनभक्ति द्विविधा है। अनुराग उत्पन्न न होने से केवल शास्त्र शासन भय से प्रवृत्ति होने पर उसको वैधी भक्ति कहते हैं। व्रजवासि जनादि में प्रकाश्य रूप में विराजमाना जो भक्ति उसको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। इस रागात्मिका का आनुगत्य से जो भक्ति होती है, उसको रागानुगा कहते हैं। रागानुगा के परिज्ञान के लिए प्रथमतः रागात्मिका को कहते हैं। अभीष्ट वस्तु में जो स्वाभाविकी परमाविष्टता—प्रेममयी तृष्णा, उसका नाम राग है। रागमयी भक्ति को रागात्मिका कहते हैं। वह कामरूपा एवं सम्बन्धरूपा नाम से दो प्रकार है। जो भक्ति सम्भोग-तृष्णा को प्रेममय रूप में परिणत करती है, उसको कामरूपा कहते हैं। इस में केवल कृष्ण सुख में ही तात्पर्य है। यह कामरूपा भक्ति व्रजदेवीगण में सुप्रसिद्ध है। इनके यह प्रेमविशेष किसी प्रकार अनिर्वाच्य माधुरी को प्राप्त कर

वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः। कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता। सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्य भमानिता। अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः। यदैश्वर्य्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता। रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा। कामानुगा सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते ।।" इति ।।३५।।

नौमीत्यनेन च नमस्कार आक्षिप्यते इति नैत्यिकं चरितं प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते। तथाहि—यथा सर्वोत्कर्ष-लक्षणस्य, जयत्यर्थस्य नमस्काराक्षेपकत्वं, तथा तादृशस्य नौमीत्यर्थस्यापि तथात्वं; स्तुति र्हि निकृष्टमपि स्तुत्यं सर्वोत्कृष्टं करोति इति स्तुत्यर्थधातूनां जयतिना तुल्यार्थत्वं निर्विवादमेवेति। जयत्यर्थस्य तथात्वं यथा काव्यप्रकाशे—

उस उस क्रीड़ा का कारण होता है,—इस लिए पण्डितगण इस प्रेमविशेष को ही काम शब्द से निरूपण करते हैं। इस हेतु, उद्धवादि भगवत् प्रिय भक्तगण भी गोपगण के इस प्रेमविशेष की प्रार्थना किये हैं। व्रजदेवीवत् विशुद्ध प्रेमभाव वशतः कुब्जा में जो रति देखने में आती है,—उसको पण्डितगण 'कामप्राया' कहते हैं। मैं गोविन्द के पिता, माता हूँ. इत्यादि मनन ही सम्बन्ध रूपा भक्ति है। वृष्णिगण, किसी किसी गोपगण भी, सम्बन्धमात्र से ही कृष्ण को प्राप्त किए हैं, कारण ऐश्वर्य ज्ञानहीन हेतु इस गोपगण का अधिकार रागात्मिका भक्ति में है। रागात्मिका द्विविध होने से रागानुगा भी कामानुगा एवं सम्बन्धानुगा भेद से दो प्रकार हैं ।।३५।।

मूल श्लोक में नौमि शब्द से (आक्षेप से) नमस्कार अर्थ आता है, अर्थात् नैतिक चरित्र को प्रणाम करता हूँ। जिस प्रकार सर्वोत्कर्ष-लक्षण 'जयति' शब्द से नमस्कार का बोध होता है, उस प्रकार सर्वोत्कर्ष सूचक नौमि शब्द से नमस्कार सूचित होता है। स्तव का पात्र यदि निकृष्ट भी होता है, स्तुति उसको भी सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रतिपन्न करती है। अतएव स्तुत्यर्थ धातुगण भी जयति धातु के साथ समानार्थ को प्रकाश करते हैं, इसमें कोइ मत भेद नहीं है। जयति शब्द से जो नमस्कार का बोध होता है—काव्य

'जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत' इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते। यद्वा—वाचिकनमस्कार एव स्तुतिः; यद्वा स्तुतिरेवास्तु तथापि न काचित् क्षतिः; तेन चात्यन्तदैन्याविष्कारेण कवीनां शील-निधित्वं व्यज्यते। दैन्यञ्चेत्थं ब्रह्मादीनामप्यगम्ये श्रीराधाकान्त-नैत्यिकचरित-वर्णने न कापि शक्तिरतः केवलं तन्नमस्करोमीति। वस्तुतस्तु श्रीकृष्णचैतन्योपदिष्ट-प्रमेयस्य ज्ञातत्वेन स्वस्य तदनुगृहीत-त्वेन च तद्वर्णन-सामर्थ्यमस्त्येवेति। वर्णितं चेमं श्रीकविकर्णपूरैः—'इह विहरति राधाकृष्णकुञ्जाधिकारी। तदुभयरसरीतेः शुद्धसिद्धान्त-धारी॥ सकलसुजनगेयः कृष्णदासाभिधेयः। पदमखिलगुणानां कोऽपि राजा कवीनामिति॥" अतएव श्रीरघुनाथदास-महानुभावैर-प्येषां सङ्गतिः प्रार्थितास्ति यथा (मुक्ताचरिते) 'यस्य सङ्गबलतो-ऽद्भुता मया मौक्तिकोत्तमकथा प्रचारिता। तस्य कृष्णकविभूपते र्व्रजे सङ्गति र्भवतु मे भवे भवे॥' इति; अनेनैवास्य पद्यस्योत्तम-

---

प्रकाश स उसको जाना जाता है, 'जयति' शब्द नमस्कार को आकर्षण करता है, अर्थात् उसको प्रणाम कर रहा हूँ। अथवा वाचिक नमस्कार ही स्तुति है, अथवा स्तुति मात्र होने से भी कोई हानि नहीं है, उससे दैन्यातिशय प्रकटन से कवियों के स्वभाव सौन्दर्य की व्यञ्जना होती है। दैन्य यह है कि—ब्रह्मादि का दुर्बोध्य ही, श्रीराधाकृष्ण की नित्यलीला है, उसकी वर्णना करने की शक्ति नहीं है, सुतरां केवल नमस्कार ही कर रहा हूँ। वास्तविक पक्ष में श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा उपदिष्ट प्रमेय का बोध होने से स्वयं भी श्रीगौराङ्ग से अन्तर्गृहीत होने से उक्त नित्यलीला वर्णन में उनकी सामर्थ्य है ही। श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीपाद ने भी कहा है—श्रीराधाकृष्ण कुञ्ज का अधिकारी, युगलकिशोर के रसरीति सिद्धान्त पूर्ण, सकल सज्जन-गीतचरित्र, निखिल कल्याण-गुणालय कृष्णदास नामक कविराज इस वृन्दाबन में विराज कर रहें हैं। इसलिए श्रीपाद रघुनाथदास गोस्वामी ने भी इनके सङ्ग की प्रार्थना की है—मैंने जिन के सङ्ग बल से यह अद्भुत मुक्ताक्रय-विक्रय रूप

काव्यत्वं, ग्रन्थस्य च महाकाव्यत्वं सिद्धम्। तथा च मम्मटभट्टः—'इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्गे वाच्याद् बुधै र्ध्वनिः कथित इति। ध्वनिश्चात्रार्थशक्तुद्भवोऽलङ्कारेणालङ्कार-व्यङ्ग्यलक्षणः। तथाहि नौमीति यद् वर्णयितुमशक्यं तत् केवलं नमस्क्रियते, यथाकथञ्चित् स्तूयते वेति। नत्या स्तुत्या वा नैत्यिकचरितस्योत्कर्ष-वर्णनादुदात्तालङ्कारोऽयं 'उदात्तं वस्तुनः सम्पदिति, हि तल्लक्षणम्। तेन च कवीनां साक्षादभिज्ञताभिधानस्य सौशील्यपर्य्यवसानाद् व्याजस्तुतिरलङ्कारो व्यज्यते। तस्य लक्षणन्तु 'व्याजस्तुति र्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढ़िरन्यथेति' रूढ़िपर्य्यवसानमिति। महाकाव्य-लक्षणमाह दण्डी—'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्। आशीर्नमस्क्रिया वस्तु-

---

अद्‌भुत कथा को प्रकाश किया है, इस व्रज में उन कृष्णदास कविराज गोस्वामी का सङ्ग ही जन्म जन्म में मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। अतएव यह पद्य उत्तम काव्य रूप में परिणत है, एवं ग्रन्थ भी महाकाव्य आख्या से विभूषित है। कारण मम्मट भट्ट काव्य प्रकाश में कहे हैं,—वाच्य से व्यङ्ग में चमत्कारातिशय रहने पर उस काव्य को उत्तम काव्य कहा जाता है। इस उत्तम काव्य को ध्वनि कही जाती है, कारण ध्वनिपण्डितगण कहते हैं कि—इससे अर्थ-शक्ति प्रभृति ध्वनित होते हैं, इसलिए ध्वनि कही जाती है। यहाँ पर अलङ्कार के द्वारा अर्थशक्त्युद्भव अलङ्कार व्यञ्जित है। 'नौमि' इस पद की ध्वनि—जिस की वर्णना करने की शक्ति नहीं है। उसको केवल नमस्कार अथवा जिस किसी प्रकार से उसका स्तव किया जाता है। नति अथवा स्तुति के द्वारा नैतिक चरित्र का उत्कर्ष की वर्णना होने पर यहाँपर 'उदात्त' नामक अलङ्कार हुआ है। उसका लक्षण—वस्तु सम्पत्ति वर्णना को ही 'उदात्त' अलङ्कार कहते हैं। उसमें पुनः कवि की साक्षात् अभिज्ञता नामक सौशील्य पर्य्यवसित होकर 'व्याजस्तुति' हुई है। व्याजस्तुति का लक्षण यह है—वाच्य, निन्दा एवं स्तुति के द्वारा यदि क्रम से स्तुति एवं निन्दा का बोधक होता है, तब वह व्याजस्तुति होती है। दण्डी

निदेशो वापि तन्मुख'मिति। (१।१४) स्तुतिपक्षे तु वस्तुनिर्देशोऽत्र बोध्यते ॥३६॥

इति दशश्लोकीभाष्ये प्रथमश्लोकभाष्यम्।

—०:❋❋:०—

अथ पूर्वश्लोकरचित-सिद्धान्तशेषं समापयन् नैत्यिकं चरितं संक्षेपेण वर्णयन्नाह – कुञ्जादिति।

कुञ्जाद् गोष्ठं निशान्ते प्रविशति कुरुते दोहनान्नाशनाद्यां
प्रातः सायञ्च लीलां विहरति सखिभिः सङ्गवे चारयन् गाः।
मध्याह्ने चाथ नक्तं विलसति विपिने राधयाद्धापराह्ने
गोष्ठं याति प्रदोषे रमयति सुहृदो यः स कृष्णोऽवतान्नः ॥२॥

यो निशान्ते रात्र्यन्ते कुञ्जगृहाद् बनान्तर्गतकुञ्जगृहाद गोष्ठं

महाकाव्य के लक्षण में कहें हैं—सर्गबन्ध (सर्ग में निबद्ध) महाकाव्य होता है। इसके प्रथम में आशीर्वाद, नमस्कार, किम्वा वस्तु निर्देश हुआ है। स्तुति पक्ष में किन्तु वस्तु निर्देश ही यहाँपर सूचित है ॥३६॥

दशश्लोकी-भाष्य का प्रथम-श्लोक-भाष्य समाप्त ॥



पूर्व श्लोक में वर्णित सिद्धान्त का अवशेष को कह कर नैत्यिक चरित्र को संक्षेप से कहते हैं—

जो निशान्त काल में कुञ्ज से गोष्ठ को जाते हैं, प्रातःकाल में एवं सायंकाल में गो-दोहन, भोजन लीला करते हैं, पूर्वाह्न में गो-चारण एवं सखागण के साथ विविध क्रीड़ा करते हैं, मध्याह्न एवं रात्रिकाल में बन में श्रीराधा के साथ बहुविध विलास करते हैं, अपराह्न काल में गोष्ठ में प्रत्यावर्त्तन एवं सन्ध्या काल में सुहृद्गण के साथ क्रीड़ा करते हैं, वह कृष्ण हमे रक्षा करें ॥२॥

सम्प्रति श्लोकस्थ प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण एवं आस्वादन का परिवेषण करते हैं। जो शेष रात्रि के समय बन मध्यस्थ

नन्दीश्वराख्यं पितृगृहं प्रविशति, 'गोष्ठं गोदोहनस्थान'मित्यमरः, प्रातःकाले सायंकाले च दोहनान्नाशनाद्यां लीलां कुरुते, दोहनं गोदोहनं, अन्नभोजनं, आद्यशब्दात् स्नानादीनां ग्रहणम्। सङ्गवे पूर्वाह्णे सखिभिः वयस्यैः सह गाश्चारयन् विहरति। मध्याह्ने अथ नक्तं रात्रौ च राधया सह विपिने वृन्दाबन-कुञ्जे अद्धा साक्षाद् विलसति। अपराह्णे गोचारणं कृत्वा वृन्दाबनात् घोषं व्रजं याति, 'घोष आभीर-पल्ली स्यादित्य'मरः। प्रदोषे रात्र्यारम्भे सुहृदो व्रजवासिजनान् रमयति च; विनापि च-कारात्तदर्थोऽवगम्यते, 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मद' इतिवत्। 'प्रदोषो रजनीमुख'मित्यमरः। स कृष्णो नोऽस्मान् अवतात् रक्षतु,स्वरति-वितरणेन जीवयत्वित्यर्थः। यद्वा—स्वसौन्दर्य्य-माधुर्य्य-वैदग्धयलीलादि-प्रकाशेन प्रीणातु। अन्यथा तद्वर्णनस्य कष्टसाध्यत्वात्। अव रक्षण-गतिकान्ति-प्रीतीत्यादि धातुपाठात्। 'न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी'ति रघुवंशीये (१।६५) प्रयोगाच्च। कृष्ण इति अवने युक्तपदोपन्यासः। कर्षति स्वमाधुर्य्य-वैदग्धयादिना आकर्षतीति कृष्ण इति तद्व्युत्पत्तेः। अत्र प्रविशति कुरुते विहरति चारयन् विलसति रमयतीति वर्त्तमान-प्रयोगे लीलानां

कुञ्ज गृह से नन्दीश्वर नामक पितृ-गृह गोष्ठ में प्रवेश करते हैं, प्रातः काल एवं सायं काल में गो दोहन, अन्न भोजन, स्नानादि लीला करते हैं, पूर्वाह्ण में सखागण के साथ गो-चारण कर विहार करते हैं, मध्याह्न एवं रात्रि काल में श्रीराधा के साथ वृन्दाबन कुञ्ज में साक्षात् रूप से विलास करते हैं, अपराह्ण काल में गो-चारण कर वृन्दाबन से व्रज में आगमन करते हैं, प्रदोष काल में व्रजवासिगण को आनन्द दान करते हैं, वह कृष्ण हमें रक्षा करें, अर्थात् निज भक्ति देकर जीवित करें। अथवा निज सौन्दर्य माधुर्य, वैदग्ध्य एवं लीलादि में प्रीति प्रदान करें। अन्यथा उनकी नित्यलीला का वर्णन अतिशय कष्टसाध्य होगा। मूल श्लोक में 'प्रविशति' 'कुरुते' 'विहरति' 'चारयन्' 'विलसति' एवं 'रमयति' यह सब पद वर्त्तमान

नित्यत्वं सूचितम्। तथाहि प्रथमस्कन्धे (१०।२६)—'अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं श्लाघ्यतमं मधोर्बनम्। यदेष पुंसामृषभः प्रियः श्रियः स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चतीति।' द्वारकावासिभिः प्रयुक्तेन 'मधोर्वनं चंक्रमणेन चाञ्चतीति' वर्त्तमान-प्रयोगेण लीलानां नित्यता सुव्यक्ता। श्रीदशमे च (९०।४८) - 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवर-परिषत्, स्वै र्दोर्भि रस्यन्नधर्मं। स्थिरचर-वृजिनघ्न सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवमिति।' अत्र जयति अस्यन् वर्द्धयन्नित्यादिपदैःयुगपत् सर्वासां लीलानामभिव्यक्त्या तासां नित्यत्वं स्फुटमेव। सुव्यक्तमुक्तं पाद्मे--'अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलं। गो-गोप-गोपिकासङ्गे यत्र

काल में प्रयोग होकर उक्त लीला-समूह की नित्यता सूचना करते हैं। (भा० १।१०।२६) में अनुरूप वर्णन है,—अहो! यदुवंश अतिशय श्लाघ्य है, कारण पुरुषोत्तम श्रीपति जन्मग्रहण कर इसको पूज्यास्पद किए हैं। अहो!! मधुबन भी अतिधन्य है, कारण इसमें आप इधर उधर पदचारण द्वारा पूजित कर रहें हैं। द्वारका वासि के द्वारा उच्चारित मधुबन में पदचारण कर भ्रमण कर रहे हैं। इस वाक्य में वर्त्तमान काल की क्रिया का प्रयोग से लीला समूह की नित्यता द्योतित हो रही है। (भा० १० ९०।४८) जो जीवगण के आश्रय एवं उसके हृदय में अन्तर्यामी रूप में निवास करते हैं। श्रीदेवकी के गर्भ से जन्म ग्रहण किए हैं, यह बाद अर्थात् कथा मात्र ही है, यादवश्रेष्ठगण जिन की सभा के सभ्य हैं, जो निज बाहु द्वारा अधर्म को दूरीभूत करके स्थावर जङ्गमात्मक प्राणीगण के दुःख का नाश करते हैं, वह श्रीकृष्ण मधुरहास्य मण्डित श्रीमुख-कमल से श्रीव्रजललना एवं श्रीमथुरा, द्वारका की कामिनीगण के काम को (प्रेमानुरूप विलास) को उद्दीपित करके सर्वोत्कर्ष से विराजमान हैं। इस श्लोक में 'जयति' 'अस्यन्' 'वर्द्धयन्' इत्यादि पद के प्रयोग से युगपत् सब लीला की अभिव्यक्ति होनेसे वृन्दाबन, मथुरा, द्वारका लीला की नित्यता परिस्फुट हुई है। पद्मपुराण में

क्रीड़ति कंसहेति।' स्कान्दे च – 'वत्सै र्वत्सतरीभिश्च साकं क्रीड़ति माधवः। वृन्दाबनान्तरगतः सरामो बालकै र्वृतः॥" इति, निष्कर्षः प्रकटाप्रकटभेदेन लीला द्विविधा, तत्र प्राकृतलोकप्रत्यक्षीभूता प्रकटा कादाचित्की, तेषां परोक्षीभूता अप्रकटा नित्या; तत्पराणि 'जयति जननिवास' इत्यादीनि वचनानि; तदुक्तमाकरे [लघुभाग १।२५८-२६०] 'प्रकटाप्रकटा चेति लीला सेयं द्विधोच्यते। सदानन्तैः प्रकाशैः स्वै र्लीलाभिश्च स दीव्यति॥ तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदन्तरे। सहैव सपरिवारै र्जन्मादि कुरुते हरिः॥ कृष्णभावानुसारेण लीलाख्या शक्तिरेव सा। तेषां परिकराणाञ्च तं तं भावं विभावयेत्॥ प्रपञ्च-गोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता। अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति तादृश्य

और भी सुस्पष्ट उक्ति है—'अहो! लोकों के दुर्भाग्य कितने हैं!! जहाँपर गो, गोप, गोपिका के साथ व्रजलीला में, कंसहा—मथुरा में नित्य क्रीड़ा करते हैं,—वहाँ की प्रान्तवाहिनी यमुना का जल पान उन्होंने नहीं किया!!" स्कन्दपुराण में वर्णित है, माधव वत्स वत्सतरी के साथ बलराम एवं गोपबालकगण को साथ लेकर वृन्दाबन में क्रीड़ा करते रहते हैं। सम्प्रति निष्कर्ष यह है कि—**प्रकट** एवं **अप्रकट** भेद से लीला द्विविध हैं, प्राकृत लोक के प्रत्यक्ष गोचर लीलाप्रकट है, किन्तु कादाचित्की समय विशेष में सम्पन्न है, जनगण की परोक्षभूता अगोचर अप्रकट लीला किन्तु नित्य है। पूर्वोक्त 'जयति जननिवासः' इत्यादि श्लोक में वर्णित विषय अप्रकट लीला का ही बोधक है। लघुभागवतामृत में उक्त है,—श्रीकृष्ण लीला प्रकट अप्रकट भेद से द्विविधा है,—भगवान् श्रीकृष्ण, गोलोक में अनन्त आत्मीयगण के साथ अनन्त लीला प्रकट कर सर्वदा ही क्रीड़ा करते हैं एवं कदाचित् आप प्रकाशों के मध्य से एक प्रकाश से ब्रह्माण्डाविर्भावित श्रीवृन्दाबन में प्रकट होकर निज पार्षदगण के साथ जन्मादि से लेकर मौषलान्त लीला करते हैं। सच्चिदानन्दमयी लीलाशक्ति भी श्रीकृष्ण की इच्छा के अनुसार उस उस नित्य लीला के पार्षदगण के मध्य में लीलारस पोषक आनुकूल्य अथवा

स्तदगोचराः। तत्र प्रकटलीलायामेव स्यातां गमागमौ। गोकुले मथुरायाञ्च द्वारकायाञ्च शार्ङ्गिणः॥ या स्तत्र तत्राप्रकटा स्तत्र तत्रैव सन्ति ताः। इत्याह जयतीत्यादि पद्यादिकमभीक्ष्णशः॥' इत्यादि; यद्यपि लीलानां नित्यत्वेनैव तच्छ्रीविग्रहता-प्रयोजनं तद्-विहारस्थानानां नित्यत्वमागतमेव, तथापि कुतर्कदग्धानां मुखमुद्रणाय तत्रापि पुराणादि वचनानि लिख्यन्ते। तथाहि श्रीदशमे (१४।२२) ब्रह्मस्तुतौ—'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति।' ब्रह्माण्डे—'अनादेयमहेयञ्च रूपं भगवतो हरेः।

प्रातिकूल्य की उद्भावना करती है। प्रपञ्चगोचर नित्य लीला ही प्रकट-लीला एवं प्रपञ्च में अनाविर्भावित लीला को अप्रकट-लीला कहते हैं। उस में प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण, गोकुल, मथुरा द्वारका में गमनागमन करते हैं। गोलोक के अनन्त प्रकाश से प्रकाशित नित्य लीला के मध्य में जो जो लीला प्रपञ्च में आविर्भावित गोकुलादि धाम में प्रकट होती है। उस उस लीला अप्रकट काल में उस उस धाम के अप्रकट प्रकाश में भी नित्य वर्त्तमान हैं। इसका ही पूर्वोक्त 'जयति जननिवासः' श्लोक पुनः पुनः उपदेश कर रहा है। यद्यपि लीलासमूह की नित्यता प्रतिपादित श्रीविग्रह धारण का प्रयोजन एवं उनके विहार स्थानादिका नित्यत्व स्थापित होता है, तथापि कुतार्किकगण के मुख को बन्ध करने के लिए पुराणादि वचन लिखित हो रहे हैं। (भा० १०।१४।२२) ब्रह्मस्तुति में उक्त है—अहो! आपके अवतार सकल की एवं उन उन अवतार के लीला समूह की सत्यता के सम्बन्ध में मैं अधिक क्या कहूँ? कारण यह मिथ्यादिरूप जगत्प्रपञ्च आपके सम्बन्ध से सत्यरूप से प्रतीत हो रहा है। आप योगमाया को विस्तार कर क्रीड़ा करते हैं, उससे असत् स्वरूप निखिल जगत्—नित्यसुख ज्ञानमय विग्रह, अनन्त, एवं अधिष्ठानभूत आप, आपकी इच्छाशक्ति योगमाया प्रकाशिका वस्तु समूह आविर्भूत तिरोभूत होने पर भी आप में नित्य रूप से ही प्रकाशित हैं। ब्रह्माण्डपुराण में उक्त है—श्रीभगवान् श्रीहरि के

आविर्भावतिरोभावावस्योक्ते ग्रहमोचने।।' बृहद्वैष्णवे "नित्यावतारो भगवान् नित्यमूर्त्तिर्जगत्पतिः। नित्यरूपो नित्यगन्धो नित्यैश्वर्य्य-सुखानुभूः।।" पाद्मे (पाताल ७३।१२-१६) व्यासाम्वरीष-संवादे श्रीकृष्णं प्रति व्यासवाक्यं–'त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि चक्षुर्भ्यां मधुसूदन। यत् तत् सत्यं परं ब्रह्म जगद्योनिं जगत्पतिम्। वदन्ति वेदशिरस श्चाक्षुषं नाथ मेऽस्तु तत्।। श्रीकृष्णवाक्यं 'पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितं। ततोऽपश्यमहं भूप बालं कालाम्बुदप्रभं। गोप-कन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः। कदम्बमूल आसीनं पीतवासस-मच्युतं। तत्रैवाग्रे (२३-२५)—ततो मामाह भगवान् वृन्दावनचरः स्मयन्। यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनं। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहं। पूर्णं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम। इदमेव वदन्त्येते वेदाः कारण-कारणं। सत्यं वापि परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं शिवमिति' ।।३७।।

रूप अनादेय (अजन्य) अत्याज्य है, उक्त रूप का आविर्भाव, तिरो-भाव ग्रहण मोचन शब्द से उक्त है। बृहद्विष्णुपुराण में कथित है—जगदीश्वर, उनकी मूर्ति, अवतार, रूप, गन्ध, ऐश्वर्य, सुख एवं अनुभव सब ही नित्य हैं। पद्मपुराण के व्यास एवं अम्वरीष संवाद में श्रीकृष्ण के प्रति वेदव्यास की उक्ति—हे मधुसूदन ! मैं इस नेत्र के द्वारा आपको देखना चाहता हूँ। उपनिषत् समूह जिन को सत्यस्वरूप, परब्रह्म, जगत्कारण, जगत्पति रूप से निर्देश करती हैं, हे नाथ ! आप का स्वरूप मेरा नयन गोचर हो। उसके उत्तर में श्रीकृष्ण बोले—तुम्हें मैं वेदगुह्य स्वरूप को दिखाऊँगा, तुम दर्शन करो। हे राजन् ! उसके बाद मैंने (व्यास) नवनीरदश्याम, गोपी परिवेष्ठित, गोप-बालकों के साथ हास्य परायण, कदम्ब तरु के नीचे समासीन, पीतवसनधारी, किशोराकृति, गोपमूर्त्ति श्रीकृष्ण का दर्शन किया। उस पद्मपुराण के अन्यत्र वर्णित हैं,—तत्पश्चात् वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण मृदुमन्द हास्य के साथ मुझ को बोले—तुम ने मेरा जो रूप को देखा, वह अलौकिक, सनातन,

ननु स्वतो नीरूपोऽपि मायिकरूपेण दृश्योऽपि स्यादिति चेन्न, यत उक्तं वासुदेवाध्यात्मे 'अप्रसिद्धे स्तद्गुणानां अनामासौ प्रकीर्त्तितः। अप्राकृतत्वाद् रूपस्याप्यरूपोऽसावुदीर्य्यते ॥' इति ; यदा स्वेच्छया प्रकाश्यते, तदैव दृश्यते, नान्यथा ; तथाहि मोक्षधर्मे वृहस्पतिं प्रत्युपरिचरवसो र्वाक्यं—(महाभारत शान्ति ३३८।२०)— 'न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभि 'र्वा वृहस्पते ! यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हतीति ।' दृश्यता च तस्य स्वेच्छाप्रकाशरूपतया स्वयं प्रकाश-शक्त्या नेत्रेऽभिव्यक्तिरेव, न नेत्रविषयतया यथा नारायणाध्यात्मे— 'नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तिभिः। तामृते परमात्मानं

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, सच्चिदानन्दमूर्त्ति, पूर्ण पद्मपलाशलोचन, इससे परतरतत्त्व और मेरा कुछ भी नहीं है। वेद समूह इसको ही सर्वकारणकारण, सर्वव्यापी सत्य, परमानन्द, शाश्वत, चिद्घन एवं मङ्गलमय कहते हैं ॥३७॥

आशङ्का—श्रीभगवान् स्वयं सच्चिदानन्द विग्रह होने के कारण स्वयं नीरूप होकर भी किन्तु अवतार के समय मायिक विशुद्ध सत्त्व के योग से रूपवान् होकर दृश्य भी हो सकते हैं। **समाधान**—ना, ऐसा नहीं कह सकते। कारण वासुदेवाध्यात्म नामक ग्रन्थ में उक्त है कि—श्रीहरि के गुणराशि समूह को निर्देश करना सम्भव नहीं है, अतः आप 'अनामा' एवं अप्राकृत रूप होनेसे 'अरूप' कहे जाते हैं। जब आप स्वेच्छा से रूप को प्रकट करते हैं, तब देख पाते हैं, उनकी इच्छा न होने पर किसी प्रकार से भी नहीं देख सकते। महाभारतीय मोक्षधर्म में वृहस्पति को उपरिचरवसु ने कहा था,—हे वृहस्पते ! आप परदेवता को साक्षात् में यज्ञभाग देने के लिए उद्यत हुए हैं, उनका प्रत्यक्ष दर्शन करने में आप और हम सब कोई भी समर्थ नहीं हैं। आप जिस भक्त के प्रति कृपा करते हैं, वह आपका दर्शन पाता है। उनका दर्शन कहते—उनकी स्वीय इच्छा से प्रकाशमान स्वप्रकाश-शक्ति द्वारा नयन में अभिव्यक्त (तादात्म्यापन्न होना) मात्र ही है। किन्तु नेत्र के विषयीभूत होकर

कः पश्येतामितं विभुमिति।' अथ परिकराणां क्रीड़ास्थानानां च नित्यता यथा पाद्मे निर्वाणखण्डे--'नित्यं मे मथुरां विद्धि वनं वृन्दावनस्तथा। यमुनां गोपकन्याश्च तथा गोपालबालकानिति॥' बृहद् गौतमीये च श्रीकृष्णवाक्यं - "इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलं। अत्र ये पशवः पक्षिवृक्षाः कीटा नरामराः। ये वसन्ति ममाधिष्टे मृता यान्ति ममालयं॥ अत्र ये गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये। योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः॥ पञ्च योजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकं। कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृत-वाहिनी॥ अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः। सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्॥ आविर्भाव स्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे। तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥" इति, एवं दशाक्षरावि-

---

दृश्य नहीं होते हैं। नारायणाध्यात्म में भी उक्त है—भगवान् नित्य अव्यक्त होकर भी निज कृपाशक्ति के द्वारा प्रत्यक्षीभूत होते हैं। उस कृपाशक्ति व्यतीत स्वरूप एवं गुणतः अनन्त उन परमात्मा श्रीहरि का दर्शन कौन कर सकता है ?

सम्प्रति **परिकरगण की क्रीड़ास्थान की नित्यता** प्रतिपादित होती है। पद्मपुराण के निर्वाणखण्ड में—मेरा मथुरामण्डल, वृन्दावन यमुना, गोपकन्या, गोपबालक—ये सब प्रत्येक वस्तु को ही नित्य-वस्तु जानना। बृहद्गौतमीयतन्त्र में श्रीकृष्ण वाक्य—इस परम रम्य वृन्दावन केवल मेरा ही वासस्थान है। यहाँ के पशु-पक्षी कीट-वृक्ष मनुष्य देवता प्रभृति मेरा अधिष्ठान में ही रहते हैं। वे सब देहान्त में मेरे आलय को जाते हैं। इस वृन्दावन में जो सब गोपकन्या रहतीं हैं, वे सब मेरे साथ नित्य मिलकर मेरी सेवा-परायणा हुई हैं। इस वृन्दावन पञ्च योजनात्मक अर्थात् विश क्रोश विस्तीर्ण है,—यह मेरा शरीर स्वरूप है। यह यमुना सुषुम्णा नाड़ी की भाँति परम अमृत-वाहिनी है। यहाँ पर देवगण सूक्ष्म अप्राकृत देह धारण कर जीववत् वास करते हैं। मैं सर्वदेवमय हूँ,—कभी भी इस वृन्दावन को नहीं छोड़ता हूँ। यहाँ पर प्रति युग में मेरा

मन्त्रेषु तत्र तत्परिकरसहितं श्रीकृष्णं पञ्चरात्र-यामल-संहितादि-ध्येयत्वेन वर्णयन्ति चेति । 'ये वसन्ति ममाधिष्टे' इति वृन्दावनस्य प्रकटप्रकाशो दर्शितः ; 'मृता यान्ति ममालय'मिति, 'अत्र या गोपकन्या' इति, 'अदृश्यं चर्मचक्षुषा' इति चाप्रकटप्रकाशः । स एष प्रकाशो वराहपुराणेऽपि दर्शितोऽस्ति यथा—'अत्रापि महदाश्चर्य्यं पश्यन्ति पण्डिता नराः । कालियह्लदपूर्वेण कदम्वो महितो द्रुमः । शतशाखं विशालाक्षि पुण्यं सुरभिगन्धि च । स च द्वादशमासानि मनोज्ञः शुभशीतलः ।। पुष्पायति विशालाक्षि ! प्रभासन्ते दिशो दशेति ।।' तथा 'तत्राश्चर्य्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे । लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्म-परायणाः । तस्य तत्रोत्तरपार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः । वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी । स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः ।। न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिमिति ।' तस्य ब्रह्मकुण्डस्येत्यर्थः । शुचित्वमत्रानन्य-

---

आविर्भाव तिरोभाव होते रहते हैं । यह तेजोमय रमणीय वृन्दावन चर्मचक्षु का अगोचर है । इस प्रकार दशाक्षरादि मन्त्र समूह में वृन्दावन में सपरिकर श्रीकृष्ण का ध्यान,—पञ्चरात्र, यामल, संहिता प्रभृति में वर्णित है । जो सब मेरा अधिष्टान में वास करते हैं, "मृत्यु के बाद मेरे घर को जाते हैं।" यहाँ पर जो सब 'गोपकन्या' 'चर्मचक्षु का अगोचर' इत्यादि वाक्य अप्रकट प्रकाश को लक्ष्य करके ही उच्चारित हुए हैं। इस प्रकाश की कथा वराहपुराण में भी वर्णित है,—यहाँ पर पण्डितगण एक महाश्चर्य दर्शन करते हैं, कालियह्लद के पूर्व दिक में एक महान् कदम्बवृक्ष है, उसमें बहु शाखा एवं महासुगन्धि पुष्प है। इस वृक्षराज बारह मास ही मनोहर, सुशीतल एवं दशों दिक को उद्भासित करके पुष्पित रहता है। एवं हे वसुन्धरे ! उस स्थान की एक आश्चर्य घटना कहता हूँ, सुनो ! मत्कार्यपरायण मानवगण यहाँ पर सिद्धिलाभ करते हैं। ब्रह्मकुण्ड के उत्तर दिक् में एक श्वेतवर्ण अशोक वृक्ष है, वैशाख शुक्ला द्वादशी के मध्याह्न काल में यह वृक्ष पुष्पित होता है, इससे

वृत्तित्वम्। अत स्तादृशः प्रकाशोऽस्य पृथिव्यापि न ज्ञायते इत्यायातम्। अप्रकटेऽपि ब्रह्मकुण्डावस्थितिस्तु तत्राप्यप्राकृतब्रह्माण्डादीनां सद्भावात्, यदुक्तं स्कान्दे – "वृन्दावनं द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम्। हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितमिति।" तथा तेषां तेषां स्थानानां लीलानुसारेण विस्तारत्व-संकुचितत्वे नानाविधसमयानां युगपत् सन्निवेशादि च बोध्यम्। यथा वृन्दावनैकदेशे ब्रह्मणोऽसंख्य-ब्रह्माण्ड-दर्शने, यथा च यमुनैकपुलिनविशेषे परिमिते व्रजसुन्दरीभि-र्विहरणे। तदुक्तं 'वनिताशतयूथप' इति (भा० १०।२९।४४), 'प्रमदा-शतकोटिभिराकुलिते' इति (आगमे) च। यथा नन्दीश्वराद्दशद्वादश-क्रोशादिव्यन्तरितेष्वपि गोवर्द्धनवृन्दावनादिषु घटिकापलमात्रेणाभि-सरणादौ; तत्र प्रमाणं (१०।२२।८) तु—'भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः। वयस्यैरावृत स्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥' इत्यादि

भक्तगण सुखी होते हैं। विशुद्ध अनन्य शरण भक्त व्यतीत इसको कोई कहीं जानता है। इससे जाना जाता है कि—यह बात पृथिवी भी नहीं जानती है। अप्रकट काल में भी ब्रह्मकुण्ड की स्थिति की कथा सुनी जाती है, वह अप्रकट काल में भी अप्राकृत ब्रह्माण्डादि की विराजमानता से ही सम्भव है। कारण स्कन्दपुराण में उक्त है,—वृन्दादेवी के द्वारा सुरक्षित द्वादश वन ही वृन्दावन है। श्रीहरि यहाँ पर नित्य वास करते हैं एवं ब्रह्मरुद्रादि देवगण इस धाम की सेवा करते हैं। उक्त लीलास्थान समूह लीला के अनुसार विस्तार एवं सङ्कुचित होते हैं। नानाविध वसन्त, शीत, ग्रीष्म प्रभृति के युगपत् सम्मिलन भी यहाँ पर होता है। दृष्टान्त—वृन्दावन के एक देश में ब्रह्मा असंख्य ब्रह्माण्ड का दर्शन किए थे, यमुना के एक पुलिन के परिमित स्थान में कोटि कोटि गोपिका के साथ कृष्ण विहार किए थे। (भा० १०।२९।४४) श्रीकृष्ण शत शत वनितायूथ के अधिपति प्रमदा शतकोटि के द्वारा रासमण्डल परिव्याप्त था। नन्दीश्वर से दश अथवा द्वादश क्रोश दूर पर स्थित गोवर्द्धन वृन्दावन में अत्यल्प काल में अभिसार हुआ, इससे लीलास्थान का सङ्कोच

व्रजवसतिस्थानादतिदूरेऽपि यमुनातीरे सूर्य्योदय-समकाल एव गमनात्; सूर्य्योदयसमकालता च (१०।२२।२) 'आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्यां जलान्ते चोदितेऽरुणे। कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप! सैकतीमिति' वचनादिति। यथैव च नारददृष्टयोगमाया वैभवे प्रातस्त्य-माध्याह्निक सायन्तनानां युगपत् प्रवृत्तौ। अन्यच्चोक्तमाकरे —[लघुभाग १।२८०] यथा—'स्वैः स्वै र्लीला-परिकरैर्जनैर्दृश्यानि नापरैः। तत्तल्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानि हि॥ आश्चर्य्यमेक-दैकत्र वर्त्तमानान्यपि ध्रुवं। परस्परमसंपृक्तस्वरूपाण्येव सर्वथा॥ कृष्णबाल्यादि-लीलाभि र्भूषितानि समन्ततः। शैलगोष्ठवनादीनां

होता है। इसका प्रमाण--(भा० १०।२२।८) योगेश्वरगण के आराध्य नित्य स्वाभाविक सर्वशक्ति समन्वित भगवान् श्रीकृष्ण गोपकन्यागण के व्रत तात्पर्य को जानकर फलदान करने के लिए दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणि को लेकर यमुना के तीर में आगए। इससे पता चलता है कि,—व्रज के वासस्थान से दूर में यमुना वहती थी, तथापि कृष्ण सूर्योदय के समय ही वहाँ पर पहुँच गए थे। उसका प्रमाण—(भा० १०।२२।२) अरुणोदय काल में गोपीयों ने स्नान कर यमुना जल के समीप में वालुकामयी मूर्त्ति की पूजा की। दूसरा दृष्टान्त भी है,—द्वारका में नारद ऋषि ने योगमायाकृत वैभव को देखा था, उसमें प्रातःकालीन, माध्याह्निक, सायन्तन लीला समूह की युगपत् प्रवृत्ति का निर्देश ही है। लघुभागवतामृत में अन्य कथा भी है,—श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण के बाल्यादि लीला समूह से विभूषित जो सब पर्वत, गोष्ठ, वनादिका असंख्य प्रकाश नित्य विराजमान हैं एवं तत्तद्देशीय तत्तत् लीला काल में श्रीकृष्ण द्वारा प्रादुर्भूत रहस्यावलि हैं, उसका दर्शन परिकरगण ही करते हैं, अपर कोई नहीं। एक समय में एकस्थान में रहकर भी वह सब वस्तु परस्पर अविमिश्र भाव से रहतीं हैं। वह भी एक अतीव आश्चर्य जनक है। श्रीकृष्णलीला दर्शन योग्य=अधिकारी, अयोग्य= अनधिकारी, यह उभयविध व्यक्तिगण भी वृन्दावनीय स्थान समूह

सन्ति रूपाण्यनेकशः ॥ त्रिभिरन्वयः। लीलाढ्योऽपि प्रदेशोऽस्य कदाचित् किल कैश्चन। शून्य एवेक्ष्यते दृष्टियोग्यैरप्यपरैरपि ॥ तथा (२८३) "प्राकृतेभ्यो ग्रहेभ्योऽन्ये चन्द्रसूर्य्यादयस्तु ते। लीलास्थैरनुभूयन्ते तथापि प्राकृता इवेति ॥"३८॥

तदेवं श्रीवृन्दाबनस्याप्रकटः प्रकाशः प्रदर्शितः। इदानीं प्रकट-लीला-समाप्तौ तत्रैव सपरिकरस्य तस्य प्रवेशः प्रदर्श्यते। तद् यथा पाद्मोत्तरखण्डे (२७९।२४-२७) दन्तवक्रबधानन्तरं श्रीकृष्णस्य व्रजे प्रत्यागमनमभिधाय मासद्वयं तत्र तेन क्रीड़ितमिति चोपवर्ण्योक्तं— "अथ तत्रस्था नन्दादयः पुत्रदार-सहिताः पशुपक्षिमृगादयो वासुदेव-प्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानारूढ़ाः परमवैकुण्ठमापुरिति।" कृष्णस्तु नन्दगोपव्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणैः

लीलाढ्य होने पर भी लीला कौतुक हेतु कभी कभी उसको शून्य देखते हैं। भगवद्धाम में लीलोपयोगी जो अप्राकृत चन्द्र-सूर्य हैं, वह प्राकृत चन्द्र-सूर्य होनेसे भी प्रकटलीला के परिकरगण माधुर्य पोषिका लीलाशक्ति के प्रभाव से अप्राकृत चन्द्र-सूर्य को भी प्राकृत के समान अनुभव करते हैं। इससे सुस्थिर सिद्धान्त यह है कि—धामत्रय में ही श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं ॥३८॥

इस प्रकार श्रीवृन्दावनीय अप्रकट प्रकाश को कहा गया है। सम्प्रति प्रकटलीला समाप्त होनेसे अप्रकट प्रकाश में श्रीकृष्ण के परिकर किस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, उसका वर्णन करते हैं। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में दन्तवक्र बध के बाद श्रीकृष्ण व्रज में आकर दो मास क्रीड़ा किए थे। इसके बाद कहा गया है कि—अनन्तर व्रज लीला का अप्रकट काल उपस्थित होने पर नित्य सिद्ध नन्दादि गोपगण, श्रीनन्द यशोदा प्रभृति, वहाँ के पशु-पक्षी मृगादि वृन्दावनीय लीला के अप्रकट प्रकाश गोलोक में तिरोहित हो गए। बाद में नन्दादि के अंशस्वरूप द्रोणादि वैकुण्ठ पार्षदगण श्रीवासुदेव के प्रसाद से दिव्यरूप धारण कर विमानारूढ़ होकर परमवैकुण्ठ चले गये थे। श्रीकृष्ण भी नन्दगोप प्रभृति को निरामय स्वपद

संस्तूयमानो द्वारावतीं विवेशेति च; व्याख्यातञ्चैतद् गद्यमाकरे (लघुभाग० १।२७४-२७५) यथा—व्रजेशादे-रंशभूता ये द्रोणाद्या अवातरन्। कृष्णस्तानेव वैकुण्ठे प्राहिणोदिति साम्प्रतम्। प्रेष्ठेभ्यो-ऽतिप्रियतमै र्जनै र्गोकुलवासिभिः। वृन्दावने सदैवासौ विहारं कुरुते हरिः॥ स्कान्दायोध्यामहिम्नि सौमित्रेः श्रूयते यथा। तथाहि—'ततः शेषात्मतां यातं लक्ष्मणं सत्यसङ्गरं। उवाच मधुरं शत्रुः सर्वस्य च स पश्यतः॥ इन्द्र उवाच—'लक्ष्मणोत्तिष्ठ शीघ्रं त्वमारोहस्व पदं स्वकम्। देवकार्य्यं कृतं वीर त्वया रिपुनिसूदन॥ वैष्णवं परमं स्थानं प्राप्नुहि स्व सनातनम्। भवन्मूर्त्तिः समायाता शेषोऽपि विलसत्फणः। इत्युक्त्वा सुर-राजेन्द्रो लक्ष्मणं सुरसङ्गतः। शेषं प्रस्थाप्य पाताले भूभारधरणक्षमम्॥ लक्ष्मणं यानमारोप्य प्रतस्थे दिवमादरादिति। केचित् पुनरेवं व्याचक्षुः—अत्र नन्दादयः पुत्रदार-

---

गोलोक में भेजकर स्वर्गस्थ देवगण द्वारा स्तुत होकर द्वारका चले गए।

इस गद्य के विषय में लघुभागवतामृत में दो कारिका हैं।—नित्य गोलोक-पार्षद नन्दादि के अंशभूत मथुरा में अवतीर्ण द्रोणादि मूर्त्ति समूह को श्रीकृष्ण वैकुण्ठ भेज दिये थे। इस प्रकार सिद्धान्त ही ठीक है, अतिप्रियतम गोकुलवासियों के साथ श्रीकृष्ण वृन्दावन में सर्वदा ही विहार करते हैं। स्कन्दपुराण के अयोध्या माहात्म्य में लक्षण के विषय में भी इस प्रकार वर्णन दृष्ट होता है। यथा—अनन्तर इन्द्र ने अनन्तदेव के साथ सायुज्यप्राप्त, सत्यप्रतिज्ञ, लक्ष्मण को सर्वजन के समक्ष में सुमधुर भाव से कहा,—हे लक्ष्मण! शीघ्र उठकर निज रथ में आरोहण करो। हे वीर! हे शत्रु तापन! आपने देवकार्य सम्पन्न किया है,—अब स्वीय सनातन परमवैष्णव धाम में गमन करो। आप के अंशभूत फणावलि-मण्डित अनन्तदेव भी आ गए हैं। अनन्तर देवगण वेष्टित इन्द्र—लक्ष्मण को यह कहकर उनके अंशभूत भूधारण समर्थ अनन्त देवको पाताल में भेज कर, आदर पूर्वक लक्ष्मण को विमान में चढ़ाकर स्वयं स्वर्ग चले

सहिता इति श्रीमन्नन्दस्य तद्वर्गमुख्यस्य पुत्रः श्रीकृष्ण एव, दाराश्च श्रीयशोदैव इति प्रसिद्धमपि पुत्रदारशब्दोक्त्या तत्तद्रूपैरेतैः सह तत्र प्रवेश इति गम्यते। विमानेन तेषां परमवैकुण्ठप्रस्थापनञ्च प्रापञ्चिक-जनस्य वञ्चनार्थमेव प्रपञ्चितम्। वस्तुतस्तु तददृश्ये वृन्दावनस्यैव प्रकाशविशेषे प्रवेशनमिति। एवमेव द्वारकाया स्तत्र परिकराणाञ्च नित्यत्वादिकं सर्वं बोध्यम्। तद् यथैकादशे (३१।२३) 'द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्। वर्जयित्वा महाराज! श्रीमद्भग-वदालयम्॥ नित्यं सन्निहित स्तत्र भगवान् मधुसूदन' इति। पाद्मे —"अथ ब्रह्मादिदेवानां तया प्रार्थनया भुवः। आगतोऽहं गणाः सर्वे जातास्तेऽपि मया सह॥ एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि! सर्वथा मत्प्रिया देवि! मत्तुल्यगुणशालिनः" इति। तेषां नित्य-लीला-प्रवेशपरिपाटी च यथा ह्याकरे [लघुभाग० १।२७६] लीलाञ्चा-प्रकटां तत्र द्वारवत्यां चिकीर्षुणा। स्वयं प्रकाश्यते तेन मुनिशापादि-कैतवम्। देवाद्यंशावतारेण ये तु वृष्णिष्ववातरन्। क्षीराब्धिशायि-रूपस्तैः सार्द्धं स्वपदमाप्नुयात्॥ नित्यलीलापरिकरा ये स्यु र्यदुवरादयः। तैः सार्द्धं भगवान् कृष्णो द्वार्वत्यामेव दीव्यतीति।"

गये। कोई कोई इस प्रकार व्याख्या करते हैं—नन्दादि गोपगण पुत्र-द्वार के साथ—यहाँ पर गोपराज नन्द के पुत्र-श्रीकृष्ण, दार-यशोदा है,—उनके साथ ही अप्रकट लीला में प्रविष्ट हुए थे। विमान के द्वारा परमवैकुण्ठ प्राप्ति भी प्रापञ्चिक लोक को मुग्ध करने के लिए है। वस्तुत प्रपञ्च के अगोचर वृन्दावन में ही प्रविष्ट हुए थे। द्वारका लीला को भी इस रीति से जानना होगा। भगवदालय को छोड़कर ही समुद्र सबको प्लावित किए थे। लघुभागवत में इसका वर्णन है,—जब श्रीकृष्ण ने द्वारका लीला को अप्रकट करने की इच्छा की, तब मुनिशाप का छल को प्रकाश किया। श्रीकृष्ण के अवतार के समय क्षीराब्धिशायी अनिरुद्ध श्रीकृष्ण में आविष्ट हुए थे। अप्रकट लीला में क्षीराब्धिशायी एवं देवगण निज निज धाम में चले गए, श्रीकृष्ण अप्रकट-प्रकाशीय द्वारका में प्रविष्ट हो गये।

तदेवमुभयत्राप्रकटप्रकाशे तेन तेषां प्रवेशन-प्रकारो दर्शितः। प्रवेश्य च तत्रस्थितानामप्रकटप्रकाशानामेषु प्रकटचरप्रकाशेष्वन्तर्भावनं कृतम्। यथा प्रकटलीलायां षोड़शसहस्रकन्याविवाहे श्रीनारददृष्ट-योगमायावैभवे च लीलाशक्त्या युगपत् सर्वत्र स्वयमाविर्भूय सर्वेष्वेवान्तःपुरेषु यादवानां प्रकाशानन्तर्भाव्य पश्चात् स्वीयस्वरूपे स्वीयप्रकाशानामन्तर्भाववद् यादवानां स्वरूपेषु तेषामपि प्रकाशा अन्तर्भाविताः। यथा च प्रतिदिनं सर्वान्तःपुरेभ्यः सुधर्माप्रवेशे तादृशमिति। तत्र तस्य युगपत् नानाप्रकाशः 'चित्रं बतैतदेकेन वपुषे'-त्यादिनोक्तम्। पश्चात् तत्परिकराणाञ्च प्रकाशभेदः षोड़शसहस्र-परिमितानां कन्यानां विवाहे व्याख्यात टीकाकृद्भिः "एतेन देवक्यादि-बन्धुजनसमागमोऽपि प्रतिगृहं यौगपद्येन सूचित इति (१०।५९।४२)। अत्र च लीलारसपोषणार्थमभिमानभेदः, परस्परानुसन्धानञ्च भवतीति सर्वमनवद्यं ॥३९॥

अप्रकट प्रकाश में परिकरवर्ग को प्रविष्ट कराकर वहाँ के प्रकट प्रकाश में अन्तर्भुक्त कर देते हैं। जिस प्रकार सोलह हजार कन्याओं के विवाह के समय लीलाशक्ति प्रभाव से युगपत् सर्वत्र स्वयं आविर्भूत होकर प्रत्येक अन्तःपुर में ही यादवों के प्रकाश समूह को अन्तर्भाव कर दिये थे। प्रतिदिन सुधर्मासभा में जाते समय सब अन्तःपुर से निकलते थे, सुधर्मा में प्रवेश के समय सब प्रकाश मूर्त्ति को निज स्वरूप में अन्तर्भाव कर सभा में उपस्थित होते थे। द्वारका के अन्तःपुर में एक ही समय में सोलह हजार कन्या को विवाह किए थे। इसके बाद टीकाकार श्रीधरस्वामीपाद ने (१०।५९।४२) कहा है,—जितनी संख्या में राजकन्या थीं, उतनी संख्या में मूर्त्तिधारण कर यथाविधि आपने विवाह किया। यहाँ पर यथाविधि शब्द से देवकी वसुदेव प्रभृति बन्धुजनगण का समागमन सब घर में ही हुआ था। यहाँ पर लीलारस पोषण के लिए अभिमान भेद एवं परस्पर का अननुसन्धान को भी जानना होगा। इससे सब समाधान हुआ ॥३९॥

अथ के ते परिकरा येषां नित्यत्वादिकं स्थापितमित्यपेक्षाया-मुक्तमाकरे [लघुभागवतामृते १।२५७] 'लीलापरिकरा गोष्ठजनाः स्यु र्यादवा स्तथा। देवाश्च ब्रह्म-जम्भारि-कुवेरतनयादयः। नारदाद्याश्च दनुजनागयक्षादयश्च ते॥' इति तत्र प्रकृतोपयोगितया गोष्ठजना विव्रियन्ते—ते च दासाः, सखायो, गुरवः, प्रेयस्यश्चेति चतुर्विधाः। तत्र दासा यथा—आकरे [रसामृत पश्चिम २।१२] 'रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः। रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः॥ आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो वकुल स्तथा। रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः॥' इति, एते तु विद्वदनुभव-सूत्रितनामानो माथुरलोकेषु प्रसिद्धाः॥ अथ सखायः—[भ,र,सि, पश्चिम ३।८] सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे। प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः॥ तत्र सुहृदः—वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किञ्चित्ते वयसाधिकाः। सायुधा स्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः॥ सुभद्र-मण्डलीभद्र-भद्रवर्द्धन-

---

जिन की नित्यता स्थापित हुई—वह लीला परिकर कौन है? इस आकाङ्क्षा का समाधान लघुभागवतामृत में उक्त है, श्रीनन्दादि व्रजवासिगण, वसुदेवादि यादवगण, ब्रह्मा, इन्द्र, कुवेर, मणिग्रीवादि, नारदादि मुणिगण, केशि प्रभृति दानवगण, कालिय प्रभृति नागगण, एवं शङ्खचूड़ प्रभृति यक्षगण लीला परिकर हैं। प्रकृत प्रस्ताव की उपयोगिता है, इसलिए गोष्ठ-स्वजनगण का विस्तृत विवरण देते हैं,—व्रजवासिगण—दास, सखा, गुरु, प्रेयसी भेद से चार प्रकार हैं। उसमें से **दासगण**—(रसामृते) रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, प्रेमकन्द, मरन्दक, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, वकुल, रसद, शारद प्रभृति व्रजस्थ अनुग हैं। इसके नामसमूह को पण्डितगण अनुभव से सूत्रित किए हैं, यह सबही माथुर मण्डल में प्रसिद्ध हैं। **सखागण** के विषय में कहते हैं—(रसामृत में) गोकुल में कृष्ण के चतुर्विध वयस्य हैं,—सुहृत्, सखा, प्रियसखा, प्रियनर्म सखा। उसमें से सुहृत् वात्सल्यगन्ध विशिष्ट सख्य है, वे सब कृष्ण से अधिक वयस्क हैं। उनके हात में अस्त्र रहता है, एवं सर्वदा

गोभटाः। यक्षेन्द्रभट-भद्राङ्ग-वीरभद्रा महागुणाः॥ विजयो बलभद्राद्याः सुहृद स्तस्य कीर्त्तिताः॥ अथ सखायः—(१३) कनिष्ठ-कल्पाः सख्येन सम्बन्धाः प्रीतिगन्धिना। विशालवृषभौजस्विदेवप्रस्थ-वरूथपाः॥ मरन्द-कुसुमा-पीड़-मणिबन्ध-करन्धमाः। इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः॥ अथ प्रियसखाः—(३।१५) वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः। श्रीदामा च सुदामा च दामा च वसुदामकः। किङ्किणीस्तोककृष्णांशु-भद्रसेन-विलासिनः॥ पुण्डरीक-विटङ्काख्यकलविङ्कादयोऽप्यमी॥ अथ प्रियनर्मवयस्याः—(३।१६)प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः। आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः। सुबलार्जुनगन्धर्वा स्ते वसन्तोज्ज्वलादयः॥ मधुमङ्गल–पुष्पाङ्क–हासाङ्काद्या विदूषकाः॥ इति। एषु स्तोककृष्णाद्या एकादश श्रीभागवते (१०।२२।३१) प्रसिद्धा यथा--'हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन। विषालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप इति। (१०।१८।२४) वृषभं भद्रसेनस्त्विति च।

दुष्टगण से कृष्ण की रक्षा करते हैं। उनके नाम—सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्ष, इन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, महागुण, विजय, बलभद्र प्रभृति हैं। सखागण—दास्यगन्धि सख्यरसशाली होते हैं, उनके नाम—विशाल, वृषभ, औजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मरन्द, कुसुमापीड़, मणिबन्ध, करन्धम प्रभृति हैं। प्रियसखागण—तुल्यवयस्क, केवल सख्यरसाश्रित हैं। उनके नाम--श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किङ्किणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्क, कलविङ्क प्रभृति हैं। प्रियनर्मसखा—सुहृत्, सखा, प्रियसखा प्रभृति से श्रेष्ठ, विशेष भावशाली एवं अतिरहस्य कार्य में नियुक्त होते हैं। वे सब सुवल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, इत्यादि हैं। मधुमङ्गल, पुष्पाङ्क, हासाङ्क प्रभृति विदूषक हैं। इस सब में स्तोककृष्णादि ग्यारह व्यक्ति के नाम श्रीभागवत (१०।२२।३१) में प्रसिद्ध है, स्तोककृष्ण अंशु, श्रीदाम, सुवल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्विन्, देवप्रस्थ, वरूपथ, (१०।१८।२४) वृषभ

दामादयश्चत्वार आगमेषु यथा—दिक्ष्वथ दामसुदामौ च श्रीदामा किङ्किणी च संपूज्येति। किन्तु दाम-सुदाम्नोरदन्त-नान्तत्वेन विशेषः। सुभद्राद्याः पञ्च भविष्योत्तरे यथा—'सुभद्र-मण्डली-भद्रभद्र-वर्द्धन-गोभटाः। यक्षेन्द्रभट इत्याद्या स्तेषां नामानि गोकुले' इति ॥ अथ गुरवः—(रसामृते पश्चिम ४।७)-ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज-व्रजेश्वरो। रोहिणी ताश्च वल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः॥ (राधा-कृष्णगणोद्देश ३२) उपनन्दोऽभिनन्दश्च पितृव्यौ पूर्वजौ पितुः। पितृव्यौ तु कनीयांसौ स्यातां सनन्दनन्दनौ ॥ पितृव्यदयिता स्तुङ्गी पीवरी करालातुलाः। (७७) पौर्णमासी भगवती सर्वसिद्धि-विधायिनी। एतेषां मध्ये श्रीव्रजराज-व्रजेश्वरी रोहिण्युपनन्दः सनन्दश्चेति पञ्च श्रीभागवतादौ प्रसिद्धाः। तत्रोपनन्द-सनन्दौ यथा श्रीदशमे (११।२२)—'तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोधिकः।' तथा (१०।३४।४) 'ऊषुः सरस्वती-तीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः। रजनीं तां महाभागा नन्दसनन्दकादय' इति च। अथ प्रेयस्यः (उज्ज्वल कृष्ण-वल्लभा ३५)—"तत्र शास्त्र-प्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा।

को भद्रसेन ने ढोकर ले गया, इत्यादि। दामादि चार व्यक्तियों के नाम—दाम, सुदाम, श्रीदाम, किङ्किणी की पूजा करके इत्यादि। सुभद्रादि पाँच व्यक्ति के नाम भविष्य पुराण के उत्तरखण्ड में—सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्षेन्द्रभट्ट इत्यादि गोकुल में सखाओं के नाम प्रसिद्ध है। अनन्तर **गुरुगण**—व्रजराज, व्रजेश्वरी, रोहिणी एवं ब्रह्मा ने जिन के पुत्रों को अपहरण किया था, वे सब गोपीगण, ताऊ, उपनन्द, अभिनन्द, चाचा सनन्द एवं नन्दन, इन सब की भार्य्या, यथाक्रम से—तुङ्गी, पीबरी, कराला, अतुला। सर्वसिद्धि प्रदायिनी भगवती पौर्णमासी, प्रभृति। इनमें श्रीव्रजराज व्रजेश्वरी, रोहिणी, उपनन्द एवं सनन्द के नाम श्रीभागवतादि में प्रसिद्ध हैं। (१०।११।२२) ज्ञानवयोधिक उपनन्द नामक गोप बोले —(१०।३४।४) नन्द सनन्दादि महाभाग्यवान् गोपगण जलपान करके सरस्वती के तीर में रात्रिवास किए थे। उक्त श्लोकद्वय में

विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैव्या च भद्रिका ।। तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः ।। चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा । अनुराधा तु ललिता नैता स्तेनोदिताः पृथक् ।। शास्त्राणि च भविष्योत्तर स्कान्दगत-प्रह्लादसंहिता-गोपालतापनी-समाख्यानि । तत्र भविष्योत्तरे यथा—गोपालो पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका । राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथेति । विशाखा च धनिष्ठिकेति क्वचित् पाठः । अयं पाठो ग्रन्थकृतां सम्मतः, धनिष्ठाया अत्र गृहीतत्वात्, दशमी तथेति दशम्यपि तारकानाम्नीत्यर्थः । सैव विचित्रा-शब्देनात्र गृहीता, चित्रैव विचित्रेत्यर्थः । दशमीत्येक नाम इति केचित्, नैतत् ग्रन्थकृत्सम्मतं, विचित्रेत्यत्र वचनान्तरस्याभावात् । पालिकादय इत्यादिशब्देन

नन्द उपनन्द सनन्द गोपों के नाम हैं। अनन्तर **प्रेयसीगण**—शास्त्र प्रसिद्धा नित्य प्रेयसीगण के मध्य में राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रा, तारा चित्रा, गोपाली, धनिष्ठा एवं पालिका ही मुख्या है। चन्द्रावली के नामान्तर सोमाभा, राधा का गान्धर्वा एवं ललिता का अनुराधा है। इसलिए नामान्तर समूह का उल्लेख पृथक् रूप से नहीं हुआ। शास्त्र शब्द से भविष्य पुराण उत्तरखण्ड, स्कन्दपुराणान्र्तगत प्रह्लाद संहिता, गोपालतापनी को जानना होगा। भविष्योत्तर में—गोपाली, पालिका, धन्या, विशाखा, ध्याननिष्ठिका, राधा, अनुराधा, सोमाभा, तारका एव दशमी हैं। किसी किसी ग्रन्थ में विशाखा धनिष्ठिका इस प्रकार पाठ भी देखने में आता है, एवं यह पाठ श्रीरूप गोस्वामी सम्मत है, कारण इस पाठ में धनिष्ठा का उल्लेख है। 'दशमी तथा' इस वाक्य से दशमी का नाम तारका जानना होगा, इसको उज्ज्वल में विचित्रा शब्द से कहा है, चित्रा ही विचित्रा है। कोई कोई कहते हैं, 'दशमी' शब्द नाम वाचक है, किन्तु यह उज्ज्वलकार का सम्मत नहीं है, कारण 'विचित्रा' इस स्थल में द्विवचन का प्रयोग नहीं है। मूल में 'पालिकादयः' शब्द से धन्या का उल्लेख हुआ

धन्याया ग्रहणम् । स्कान्दगत-प्रह्लादसंहिता तु–'ललितोवाचेत्यादिना ललिता पद्मा भद्रा शैव्या श्यामलेति पञ्चकमधिकमाह 'राधाविशाखा-धन्येत्यत्रत्यं च त्रयं—तत्र धन्यास्थाने केचिच्चन्द्रावलीं पठन्ति, अभिमतञ्चैतद् ग्रन्थकृतां, शास्त्र-प्रसिद्धानां मध्ये त श्चन्द्रावल्याः संगृहीतत्वात् । एवं गोपालतापनी च गान्धर्वत्वे तदाह 'अथ राधा-चन्द्रावलीललितानां नामभेदमाह चन्द्रावलीत्यादिना । तत्र चन्द्रावली-सोमाभयोरैकार्थ्यं, साम्यप्रायात् । राधागान्धर्वयोस्तु मुख्या स्वलिङ्गेन 'यथा राधा प्रिये'त्यादिना यथा पाद्मे राधाया मुख्यत्व-मुक्तं, तथा गोपालतापन्यां गान्धर्वाया अपीत्यर्थः । ललितानुराधयो-रैक्यन्तु वैष्णवतोषण्यां—मध्यात्व-वाम्यत्व-प्राखर्य्यादि-व्यञ्जक-प्रह्लादसंहितीयवचनैकार्थ्येन 'एका भ्रुकुटिमावध्येत्य'नेन (१०।३२।६) श्रीराधायाः, तस्य परवाक्येन 'अपरानिमिषद्दृग्भ्या'मित्यनेन

है। स्कान्दपुराणीय प्रह्लाद संहिता में ललिता, पद्मा, भद्रा, शैव्या, श्यामला के नाम अधिक है। स्कन्दपुराणीय संहिता में राधा, विशाखा धन्या के नाम है, धन्या के स्थान में चन्द्रावली का नामोल्लेख भी करते हैं। यह पाठ श्रीरूपगोस्वामीपाद के सम्मत हैं, आप ने चन्द्रावली का नाम उससे ही संग्रह किया है। गोपाल-तापनी में राधा का नाम गान्धर्वा है, उसका ग्रहण आप ने किया है। सम्प्रति राधा, चन्द्रावली, ललिता का नाम भेद को कहते हैं। चन्द्रावली, सोमाभा समानार्थक है, राधा गान्धर्वा नामद्वय निज निज मुख्यता लिङ्ग (तात्पर्य निर्णायक सामर्थ्य विशेष) श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या भेद से अङ्गत्व बोधक छै प्रमाण है, उसमें से लिङ्ग शब्द से अर्थगत एवं शब्दगत सामर्थ्य को जानना होगा। जिस प्रकार राधा विष्णु की प्रिया है, राधाकुण्ड भी उनका अतिप्रिय हैं, पद्मपुराण के इस वचन के अनुसार श्रीराधा का मुख्यत्व स्थापित हुआ है। ललिता अनुराधा के ऐक्य के सम्बन्ध में वैष्णव-तोषणी में उद्धृत मध्यात्व, वाम्यत्व, प्राखर्य्य प्रभृति व्यञ्जक प्रह्लादसंहित के वचन से बोध होता है। (भा० १०।३२।६) श्लोक में

(१०।३२।७) ललितायाश्च स्थापितत्वेन। भविष्योत्तरे राधानुराधेत्यत्र पाठस्य नाम्नोश्च युग्मतामयत्वावगतेरिति। "लोकप्रसिद्धनाम्नचस्तु खञ्जनाक्षी मनोरमा। मङ्गला विमला लीला कृष्णा शारी विशारदा। तारावली चकोराक्षी शङ्करी कुङ्कुमादयः॥" इति (३६) तथा श्रीराधासखीष्वपि चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखा रङ्गदेवी सुदेवी प्रभृतयो ज्ञेयाः। एताः पञ्च, ललिता-विशाखा-चित्राश्च शास्त्रप्रसिद्धा स्तिस्र इत्यष्टौ सर्वासु श्रीराधासखीषु मुख्या इत्यपि बोध्यमिति ॥४०॥

विपिने विलसतीत्यनेन गृहे गृहे विलासाभावो लक्ष्यते, अन्यथा विपिन-पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः; तेन तस्यां तस्योपपतित्वं, तस्याश्च तस्मिन् परकीयात्वं व्यज्यते। किञ्च 'मध्याह्ने चाथ नक्तं विलसति विपिने राधयाद्धापराह्णे' इत्यत्राद्धा शब्देन यदा प्रातरादौ गोदोह-

---

"प्रणयकोप के आवेश से विह्वला किसी गोपी" इससे राधा का स्थापन हुआ है, भविष्योत्तर में राधानुराधा इत्यादि श्लोक के पाठ से नामद्वय की युग्मता की प्रतीति होती है, अतः ललिता अनुराधा समानार्थ द्योतक है। लोक प्रसिद्ध नित्य प्रियागण—खञ्जनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शङ्करी, कुङ्कुमा इत्यादि हैं। अपर कथा यह है कि—श्रीराधा सखीगण के मध्य में चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी, सुदेवी प्रभृति को जानना होगा, यह सब पाँच जन, एवं शास्त्र प्रसिद्ध ललिता, विशाखा, चित्रा यह तीन मिलाकर आठ जन ही श्रीराधा सखीगण के मध्य में मुख्या है ॥४०॥

सम्प्रति प्रकृत प्रस्ताव का अनुसरण करते हैं—विपिन में विलास करते हैं,—इस उक्ति से गृह गृह में विलास का अभाव ही सूचित होता है, अन्यथा 'विपिन' पद प्रयोग व्यर्थ होगा। विपिन में विलास हेतु श्रीराधा में श्रीकृष्ण का उपपतित्व एवं श्रीकृष्ण में श्रीराधा का परकीयात्व व्यञ्जित हुआ है। दूसरी बात है कि—मध्याह्न एवं रात्रिकाल में राधा के साथ विपिन में साक्षात् भाव से

नादि-लीलां कुरुते, तदापि तया सह मनसा विलसतीति लक्ष्यते। स विलासश्चेत्थं—कदा कथं चेयं मिलिष्यति, यदा च मिलिष्यति, तदा कुत्र कुत्र का वा क्रीड़ा कर्त्तव्येति सङ्कल्प-विकल्परूपः, तेन च परमोत्कण्ठामयत्वेन शृङ्गारस्यात्यन्तपरिपोषादौपपत्ये परकीयात्वे च रसोत्कर्षावधि व्यंज्यते। अथ शब्दोऽत्र-कार्त्स्न्ये, कृत्स्न-मनोरथ-पूर्त्या विलसतीत्यर्थः, तथाच अमरसिंहः—मङ्गलानन्त-रारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथेति, अत्राथशब्दोऽनुशासनमितिवदा-रम्भार्थता मङ्गलार्थता च न घटति, श्लोकमध्ये प्रयुक्तत्वात्, यत्रादौ प्रयुज्यतेऽथशब्द स्तत्रैव तस्य तत्तदर्थता, स्नात्वाथ भुङ्क्ते, इतिवदनन्तरार्थतापि न, संगवे 'सखिभिर्गाश्चारयन् विहरति', इत्यनेन संगवस्य पूर्वमुक्तत्वात्, मध्याह्नकालस्य तदनन्तरभावित्वेन स्वत एव

विलास करते हैं। इस वाक्य में अद्धापद 'साक्षात्' द्वारा सूचित होता है कि—जब श्रीकृष्ण प्रातःकालादि में गो-दोहोनादि लीला करते हैं, तब मन मन में श्रीराधा के साथ विलास करते हैं। वह विलास इस प्रकार से होता है,--कब किस प्रकार से राधा मेरे साथ मिलेगी? जब मिलेगी तब कहाँ कहाँ किस किस क्रीड़ा होगी—इत्यादि संकल्प विकल्परूप विलास है, इससे ही परम उत्कण्ठाति-शय्य हेतु शृङ्गार रस की महा परिपुष्टि होकर औपपत्य एवं परकीयात्व में रस की पराकाष्ठा ही व्यञ्जित हुई है। श्लोक में 'अथ' शब्द कार्त्स्नच द्योतक है, अर्थात् समग्र मनोरथ पूरण करके विलास करते हैं। 'अमरकोष' में 'अथ' शब्द से मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न एवं समग्र का बोध होता है। यहाँ पर 'अथ' शब्द अनुशासनवत् (आदेश, एवं अधिकार) आरम्भ अथवा मङ्गलार्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। कारण यह शब्द श्लोक के मध्य में प्रयोग हुआ है। आदि में 'अथ' शब्द का प्रयोग होने पर, उससे अधिकार मङ्गल की सूचना होती है, 'स्नात्वा अथ भुङ्क्ते" इस वाक्य में अथ शब्द से जिस प्रकार स्नान के अनन्तर भोजन का बोध होता है, यहाँ पर वैसा भी नहीं होगा। कारण "सङ्गवे सखिभि

तदनन्तरतालब्धेः, अथ भोक्तुं समर्थोसि इतिवत्प्रश्नार्थतापि न, अप्राकरणिकत्वात्, अतोऽथ क्रतून् ब्रूम इत्यत्रेव कृत्स्नार्थतैवात्र सम्भवतीति, अनेनापि परकीयश्रृङ्गाररसस्य परमोत्कर्षता सूचिता अद्धापदलक्ष्य-परमोत्कण्ठामय-विप्रलम्भ-श्रृङ्गारान्तर्भावित्वादस्य संभोगश्रृङ्गारस्य, तदुक्तं "न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। काषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्द्धते॥" इति प्रकट-लीलायामेव परकीयात्वादिकं, न त्वप्रकटलीलायामितीमं भ्रममपाकर्त्तुं विलसतीति वर्त्तमान-प्रयोगः, नित्यमेव तत्तत् सर्वमिति भावः॥४१॥

एतत् सर्वमाकरोक्तदिशा प्रतिपाद्यते, तथा चोक्तमाकरे [उज्ज्वल,

गाश्चारयन् विहरति" इस वाक्य से 'सङ्गव (पूर्वाह्ण)-काल का प्रयोग पहले ही हुआ है, मध्याह्न काल उसके परवर्त्ती होने से स्वतः ही तदानन्तर्य्य का बोध होता है। "अथ भोक्तुं समर्थोऽसि" भोजन कर सकते हो ? इस वाक्य का अथ शब्द प्रश्नद्योतक है, इसकी भाँति श्लोकस्थ अथ शब्द प्रश्नार्थक होने से अप्रासङ्गिक होगा। "अतोऽथ क्रतून् ब्रूमः" सम्प्रति समग्र क्रतु को कहेंगे। इस वाक्य के अथ शब्दवत् यहाँ पर समग्र अर्थ ही सम्भव है। इस अथ शब्द का 'समग्र' अर्थ मानने पर भी परकीया श्रृङ्गार रस का परमोत्कर्ष ही सूचित हुआ है, कारण—'अद्धा साक्षात् भाव से' इस पद के लक्ष्यीभूत परमोत्कण्ठामय विप्रलम्भ श्रृङ्गार—सम्भोग श्रृङ्गार के अन्तवर्त्ती विराजमान है। रसशास्त्र में उक्त है,—विप्रलम्भ व्यतीत सम्भोग की पुष्टि नहीं होती है, कारण रञ्जित वस्त्र पुनर्बार रञ्जन करने से ही अतिशय राग रक्तिमा की वृद्धि होती है। प्रकट लीला में ही केवल परकीयात्व (औपपत्य) किन्तु अप्रकट लीला में नहीं है, इस भ्रम का निराकरण करने के लिए 'विलसति' विलास करते हैं, 'विलसति' पद में वर्त्तमान काल का प्रयोग हुआ है। नित्य ही तत्तत्पारकीयत्व, औपपत्य इत्यादि लीलाविनोद हो रहा है, यह ही तात्पर्य्य है॥४१॥

नायकभेद ११], रागेणोल्लङ्घयन् धर्मं परकीयाबलार्थिना। तदीय-प्रेमसर्वस्वं बुधैरुपपतिः स्मृत इति। अस्यार्थः—उपपतेः सामान्य-लक्षण-पूर्वकं विशेषलक्षणं करोति, रागेणेत्यादिना परकीयाबलामर्थितुं शीलं यस्य स परकीयाबलार्थी तेन रागेण अर्थात् तस्याः परकीया-बलाया धर्मं पातिव्रत्यमुल्लङ्घयन् स्वप्रयत्नेनात्मनि तस्या रतिमुत्पाद्य तत्पातिव्रत्यं त्याजयन्नित्यर्थः। उपपतिसामान्यलक्षणं वा, परकीया-बलार्थी चासौ ना पुमांश्च स तथा अन्यत् समं स एव स्वतएव तदीय-प्रेमवसतिः परकीयाबलानां परमप्रेमास्पदं चेत् तदैव बुधैर्भरतादिभिः स्मृतः स्वकीयस्मृतौ साक्षात् कथितः यः स मुख्यः उपपतिर्भवेदित्यर्थः, इति शेषलक्षणम्। एवञ्चात्रैव परमोत्कर्षः (नायक १३) लघुत्वमत्रेति

परकीया एवं औपपत्य इत्यादिका यथार्थ सिद्धान्त उज्ज्वल के मत से प्रतिपादित हो रहा है। उपपति का लक्षण—जो व्यक्ति आसक्ति हेतु धर्म को उल्लङ्घन कर परकीया रमणी के प्रति अनुरागी होता है, एवं परकीया अबला का प्रेम-सर्वस्व होता है, उसको उपपति कहा जाता है। इस वचन में उपपति का सामान्य लक्षण निर्णय पूर्वक विशेष लक्षण भी कहते हैं, राग उत्पादन के द्वारा इत्यादि। परकीया अबला की प्रार्थना करना ही स्वभाव है जिसका, वह है परकीया अबलार्थी, उस राग के द्वारा—परकीया अबला का धर्म पातिव्रत्य को उल्लङ्घन करके अर्थात् निज प्रयत्न से ही अपने के प्रति उस नारी की प्रीति उत्पादन कर उसका पातिव्रत्य धर्म का परित्याग कराकर। अथवा यह वचन केवल उपपति सामान्य का ही लक्षण है। परकीयाबलार्थी जो पुरुष, वह आसक्ति से धर्म लङ्घन कर यदि परकीया नायिका का प्रेम सर्वस्व होता है, तब पण्डितगण उसको उपपति कहते हैं। यह है द्वितीय अर्थ। तदीय प्रेमवसति—परकीया अबलागण के परम प्रेमास्पद होने पर भरतादि प्राज्ञ व्यक्तिगण स्वकीय स्मृति में उसको मुख्य उपपति नायक निर्देश किए हैं। इस प्रकार व्याख्या से ही निम्नोक्त वचन द्वय सार्थक हो सकते हैं।—'अत्रैव परमोत्कर्ष' अर्थात् श्रीकृष्ण के

(१६) द्वयमपि संगच्छते। तत्र प्राकरणिके मुख्योपपतौ महाकवि-वाक्यमुदाहरति, 'सङ्केतीकृत-कोकिलादि-निनदं कंसद्विषः कुर्वतो, द्वारोन्मोचनलोलशङ्खबलयक्वाणं मुहुः शृण्वतः। केयं केयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो, राधाप्राङ्गणकोणकोलि-विटपिक्रोड़े गता शर्वरीति' अत्र शङ्खबलयक्वाणं मुहुः शृण्वत इत्यनेन तस्याः स्वकीय-लज्जाभयाद्यनादरेण तदीय सुखे प्रवृत्त्या तस्या स्वतस्तदीय-प्रेमवसतित्वाभिव्यक्तेरुक्त लक्षणसङ्गतिः। न चात्र शङ्खबलयपदाद्य-व्यञ्जकमिति वाच्यं, बहुतरानर्घ्यमणिघटितस्वर्णादिभूषणचयमध्य-

---

साथ व्रजाङ्गनागण के औपपत्य लीलाविशेष में ही शृङ्गार रस का परमोत्कर्ष है। एवं 'लघुत्वमत्र' अर्थात् ग्रन्थकार जिस औपपत्य भाव को घृणित रूप से वर्णन किया है,—वह प्राकृत नायक पर है, लीलारस निर्यास का आस्वादन हेतु जो अवतारी श्रीकृष्ण हैं, उक्त लघुता उन कृष्ण के सम्बन्ध में नहीं हैं। सम्प्रति प्रकरणगत मुख्य उपपति के सम्बन्ध में महाकवि हर-विरचित वाकच का उदाहरण देते हैं। एकदिन रात्रि में श्रीकृष्ण श्रीराधा के प्राङ्गण स्थित बदरीवृक्ष मूल में अवस्थित होकर कोकिल के शब्द से सङ्केत कर रहे थे, उससे राधा निज शयन कक्ष का द्वार को खोलने लगी, उससे उनके हस्तस्थित शङ्ख-बलयादि की ध्वनि होनी लगी, उक्त ध्वनि को सुन कर कृष्ण मुहुर्मुहु आनन्दित तो हो रहे थे, किन्तु गृहान्तर में सुप्ता जरती सास जटिला उस शब्द को सुन कर केओ! केओ! करके गर्जन करने से दुःखी हो गये। इस प्रकार मुहुर्मुहु कोकिल शब्द, एवं द्वार उद्घाटन शब्द, बूढ़ी के तर्जन गर्जन भी चलने लगे,- श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बेर के पेड़ के नीचे ही पुरी रात विताई !!! इस श्लोक में "शङ्ख-बलयध्वनि मुहुर्मुहु सुन रहे हैं" इस वाकच में श्रीराधा स्वीय लज्जाभयादि का अनादर कर श्रीकृष्ण सुख के लिए प्रवृत्त होगई है, इससे श्रीकृष्ण पक्ष में स्वाभाविक प्रेमवसतित्व होनेसे लक्षण की सङ्गति हुई है। यहाँ पर 'शङ्ख-बलय' पदादि में व्यञ्जना नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है,

नाहत्य परमविलासितया श्रीकृष्णस्य तद्वयस्यादीनां गुञ्जाकाचादि-मयभूषणधारणवत् तस्या अपि महाविलासिन्या मणिखचितस्वर्ण-भूषणतिरस्कारि--गौड़देशादि--प्रसिद्ध-विचित्रानेकचित्रशालि-शङ्ख-बलय-धारणस्य सम्भवात्, अत्रैव परमोत्कर्षत्वमाह-अत्रैव परमोत्-कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः (१३) इति अत्रैव प्रक्रान्ते श्रीकृष्ण-लक्षणोपपति-विशेषे एव शृङ्गारस्य उज्ज्वलरसस्य परमोत्कर्षः परमोऽवधिः प्रकर्षेण कीर्त्तितः उच्चैर्गीतः भरतादिभिरिति शेषः। न चात्रैव भावविशेषे इति वाच्यं भावबिशेषस्याप्रक्रान्तत्वात्, तत्र प्रकीर्त्तनं दर्शयितुमाह तथा च मुनिरिति मुनिर्भरतः (१४) किमाह मुनि स्तत्राह (१५) "बहु वार्य्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्न-कामुकत्वञ्च। या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमारतिरिति।" यत औपपत्याद्धेतोः मिथुनं बहु यथा भवति तथा वार्य्यते निवार्यते,

---

कारण—बहुतर महामूल्य मणिघटित स्वर्णादि भूषण समूह का अनादर कर परमविलासित्व प्रयुक्त श्रीकृष्ण निज वयस्यगण रचित गुञ्जादि भूषण धारण करते हैं, उस प्रकार श्रीराधा भी मणिखचित स्वर्ण भूषणादि तिरस्कारी गौड़ादि देश प्रसिद्ध विचित्र अनेक चित्र-भूषित शङ्ख-बलयादि धारण करती थीं। अत्रैव इत्यादि यहाँ पर अर्थात् प्रस्तावित श्रीकृष्ण-लक्षण उपपति विशेष शृङ्गार का उज्ज्वल रस का परम उत्कर्ष (अवधि) है। यह ही भरतादि मुनियों ने परमादर के साथ उच्च कण्ठ से गान किया है,—'अत्रैव' शब्द का तात्पर्य्य भावविशेष है, यह भी कहना ठीक नहीं है,कारण —भावविशेष यहाँ पर विवक्षित नहीं है। उज्ज्वल में उसको प्रकृष्ट रूप से दिखाने के लिए ही श्रीरूप पाद ने कहा—"तथा च मुनिः, अर्थात् महामुनि भरत उक्त विषय में उदाहरण दिये हैं, जिस रति हेतु लोकतः धर्मतः बहु निवारण है, जिस में नायक नायिका की प्रच्छन्न कामुकता है, एवं जो रति परस्पर दुर्ल्लभतामयी है, कविगण उसको ही मन्मथ सम्बन्धिनी रति कहते हैं। सम्प्रति प्रतिपद का विश्लेषण करते हैं,—"यतः" जिस औपपत्य हेतु मिथुन

यत्रौपपत्ये मिथुनस्य प्रच्छन्न-कामुकत्वञ्च संगोपितरमणत्वं, या च तन्निमित्ता मिथोऽन्योन्यं मिथुनस्य दुर्लभता सा, तदेवौपपत्यमित्यर्थः। रतिविशेषणत्वात् स्त्रीलिङ्गता, मन्मथस्य रतिः रमणं क्रीड़ेत्यर्थः, तत्रैव शृङ्गारस्यावधिरित्यर्थः। ननु सामान्यौपपत्येऽपि निवारणादि-सद्भावात् तत्रापि शृङ्गारस्य परमोत्कर्षतास्त्वित्याशङ्क्य मुनेर-सम्मतत्वेन, प्रत्युत तत्र लघुत्वमेवेति वदन् श्रीकृष्णे तस्यापवादमाह (१६) 'लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्णे रस-निर्य्यास-स्वादार्थमवतारिणि' इति। अत्र सामान्योपपत्तौ लघुत्वं गौणत्वं प्रोक्तं अर्थार्ज्जितं, न तु साक्षात् स्मृतं भरतादिभिरिति यत् तत्तु तत्रैव प्राकृतनायके सामान्यौपपत्तौ। तदुक्तं भरतमतानुसारिणि साहित्यदर्पणे, 'उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च। बहुनायक-विषयां रतौ च तथानुभयनिष्ठायाम्॥ प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधर्म-पात्रतिर्यगादिगते। शृङ्गारे नौचित्यमिति॥'४२॥

नायक-नायिका उभय ही अनेक प्रकार से निवारित होते हैं। जिस औपपत्य में उभय का प्रच्छन्न कामुकत्व (गोपन रमणत्व) होता है,। (रति का विशेषण होनेसे ही 'सा' शब्द स्त्रीलिङ्ग है) मन्मथ की रति=रमण क्रीड़ा, इसमें ही शृङ्गार की अवधि है। सामान्य औपपत्य में भी निवारणादि यथेष्ट विद्यमान है, उसमें शृङ्गार रस को परमोत्कर्षता क्यों नहीं होगी? इस प्रकार आशङ्का करके सामान्य औपपत्य में श्रीभरत मुनि की असम्मति है, कारण सामान्य औपपत्य हेय है, वस्तुत उसमें लघुत्व ही है। यह कह कर श्रीकृष्ण में लघुत्व का निषेध करते हैं। पूर्वाचार्यगण उपपतित्व में लघुत्व गौणत्व को अर्थ बल से, साक्षात् रूप से नहीं, अवतारणा करते हैं। प्राकृत नायक के सम्बन्ध में ही उसको समझना होगा। भरतमतानुसारी साहित्यदर्पणकार कहते हैं, शृङ्गार रति उपनायक-गत होने पर अनुचित होता है, अर्थात् नायक दक्षिणादि गुण-सम्पन्न, कुलिन, शीलवान् न होने पर एवं नायिका नायक सामान्य गुण मण्डित न होनेसे रति अनुचित होगी। मुनिपत्नी, गुरुपत्नी प्रभृति

कृष्णे त्वप्राकृतनायके उपपतिविशेषे इत्यर्थः। न लघुत्वं नास्तीत्यर्थः, न हि तस्य सामान्यौपपत्यं येन तत्र लघुत्वं स्यादिति भावः। तत्र हेतुगर्भ-विशेषणमाह—रसनिर्यासेति—रसस्य निर्यासः सारस्तस्य स्वादार्थमवतरण-शीले कृष्णे लघुत्वं नास्तीत्यादिकमेव तदीय महाभक्तश्रीलीलाशुक-मतेन द्रढ़यति—"शृङ्गाररस सर्वस्वं शिखिपिञ्छविभूषणम्। अङ्गीकृतनराकारमाश्रये भुवनाश्रयमिति। (१७) शृङ्गाररसः सर्वस्वं यस्य, अङ्गीकृतः नित्यत्वेन स्वीकृतो नराकारो येन, स्पष्टमन्यत्। तदेव बहु वार्य्यते यतः—इत्यस्य मुनि-वाक्यस्योपपत्तिविशेषः—श्रीकृष्ण एव विषयः उपनायक-संस्थाया-

---

के सम्बन्धादि विहीन बहु नायक निष्ठ, अनुभय निष्ठ नायक नायिका के अन्यतर असम्मत होने से, रति अनुचित होगी। नायक के प्रतिपक्षगत एवं असत् कुलजात नायक होनेसे, अथवा तिर्यक् प्राणि प्रभृति में भी होने पर रति अनुचित होगी ॥४२॥

किन्तु अप्राकृत नायक उपपति विशेष कृष्ण के सम्बन्ध में यह बात प्रयोज्य नहीं है। न=लघुता नहीं है, अर्थात् उनका तो सामान्य औपपत्य नहीं है, जिस मे लघुत्व का प्रसङ्ग हो सकता है। उस में हेतुगर्भ विशेषण यह है—रस निर्यास इत्यादि—रस का निर्यास (सार) का आस्वादन करने के लिए जो अवतीर्ण हैं, इस प्रकार कृष्ण में लघुता नहीं हो सकती है, यह भी उनके महाभक्त श्रीलीलाशुक मत से दृढ़ करते हैं, शृङ्गार-रस सर्वस्व इत्यादि (नायक १७) शृङ्गार रस ही जिनका सर्वस्व है, अङ्गीकृत (नित्यता के कारण स्वीकृत) हुआ है, नराकार जिनके द्वारा। अर्थ यह है कि—शृङ्गार रस ही जिनकी सर्व-सम्पति है, मयूरपिच्छ ही जिनका विशेष भूषण है, जिन्होंने नित्य नराकृति को धारण किया है, उस भुवनाश्रय को, भुवन समूह जिनका आश्रय, अर्थात् त्रिजगन्मोहन होने से चतुर्दश भुवन को जिन्होंने आलम्बन स्वरूप किया है, मैं उनकी शरण लेता हूँ। लीलाशुक की यह उक्ति ही भरतमुनि के "बहु वार्यते यतः" इत्यादि वाक्य की उपपत्ति है, अर्थात् सङ्गति

मित्यस्य तु तदितरः सामान्योपपतिरिति व्यवस्थितं। तत्रेदं बीजं, यत्रौपपत्ये लोकविरुद्धत्वं धर्मविरुद्धत्वञ्च, तत्रैव लघुत्वं; यत्र तु तदुभयाभावस्तत्र बहुनिवारणादिहेतुभिः शृङ्गारस्य परमोत्कर्षता, तत्र लौकिकौपपत्ये, परदारान्न गच्छेन्मनसापि कदाचनेत्यादि शास्त्र-विरुद्धत्वेन पाप-सम्भवात्। धर्म-विरुद्धत्वमतएव निन्दासम्भवा-ल्लज्जाकरत्वेन लोक-विरुद्धञ्च तदेव तद्व्यञ्जितं, सामान्यलक्षणे स्त्रीणां लज्जाधिक्यात् प्रथममप्रवृत्त्या तासां धर्ममुल्लङ्घयन्नितरां यत्नप्रयोगेण, अतएव त्रिकाण्डशेषे तस्यैव 'जारः पापपतिः समाविति' निन्दागर्भितं नाम, अतः स्वयं श्रीकृष्णेनापि (भा० १०।२९।२६) "अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितञ्च सर्वत्र

अथवा सिद्धान्त विशेष हैं। श्रीकृष्ण ही उसका विषय हैं। साहित्य-दर्पणकार की 'उपनायक संस्था' उक्ति कृष्ण भिन्न सामान्य उपपति में प्रयोज्य है,—यह तो है व्यवस्था। यहाँ पर वीज (तत्त्व) यह है कि—जिस औपपत्य में लोक-विरुद्धता धर्मविरुद्धता है, वह ही लघु है। जहाँपर लोकतः अथवा धर्मतः विरोधाभाव है, वहाँपर बहु निवारण इत्यादि हेतुसमूह के द्वारा परमोत्कर्षता ही साधित हुई है। उस में लौकिक औपपत्य के सम्बन्ध में "मन से भी कभी परस्त्री गमन न करे" इस शास्त्र वाक्य का विरुद्धाचरण करने पर पाप होगा, अतएव पाप होगा, अतएव धर्मविरुद्ध भी हुआ है। उसमें निन्दा एवं लज्जादि की सम्भावना है, अतः लोक विरुद्ध ही है, सामान्य लक्षण में यह व्यञ्जित हुआ है। स्त्रीगण में लज्जाधिक्य हेतु प्रथम उन सबकी अप्रवृत्ति होती हैं, नायक ही अनेक प्रयत्न से पातिव्रत्य धर्म का उल्लङ्घन कराते हैं। इसलिए त्रिकाण्ड शेष में जार पापपति समार्थ वाचक होकर निन्दास्पद उपपति नाम हुआ है। सुतरां स्वयं श्रीकृष्ण भी (भा० १०।२९।२६) कहे हैं,—कुलस्त्रीगण के औपपत्य (उपपति विषयक सुख), अस्वर्ग्य (स्वर्ग प्राप्ति का प्रतिकूल), अयशस्य (पूर्वसञ्चित यशोनाशक), अचिरस्थायित्व हेतु अतितुच्छ, दुःखसाध्य, पति एवं नरकादि से

ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः"—इत्यनेनास्यैवास्वर्ग्यत्वमुक्तम्। श्रीव्रज-देवीभिरपि (भा० १०।४७।७) निःस्वं त्यजन्ति गणिका जारा भुक्ता रतां स्त्रियमिति तस्यैवोल्लेखः कृतः, अत्र तु शास्त्रविरोधाभावेन पापासम्भवान्नधर्मविरुद्धमतएवानिन्द्यत्वेन लज्जाद्यसम्भवान्न लोक-विरुद्धश्च, प्रत्युत—तल्लोकेषु सुष्ठूपादेयत्वमेवेति बहुनिवारणादि-हेतुभिः शृङ्गारस्योत्कर्षता। एतच्च विशेषलक्षणे तदीयप्रेमवसति-रित्यनेन व्यञ्जितं, तासां परमदुःसहलोकलज्जानादरेण तदेकप्रीत्या प्रवृत्तेरवगमात्, तत्प्रीतेश्च सर्वशास्त्र-फलत्वात्, "तत्र (१०।३३।३०) धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो" यथा, इत्यादि वचनप्रामाण्यान्न धर्मविरुद्धत्वम्, अतएव न लोक-विरुद्धमपि, प्रत्युत लोकेषु सुष्ठूपादेयमेव। यथा (१०।३८।८)

भयसङ्कुल्य, स्वदेश विदेश में अथवा व्यवहार में परमार्थ में सर्वत्र ही निन्दित है। व्रजदेवीयों ने भी इसकी निन्दा की दृष्टि से ही देखी है। (भा० १०।४७।७) बारवनितागण निर्धन पुरुष को एवं जारगण रमणवती, अतृप्ता रमणी को भोगकर परित्याग करते हैं। श्रीकृष्ण विषय में शास्त्रविरोध नहीं है, पाप की भी सम्भावना नहीं है, अतएव धर्मविरुद्ध भी नहीं है, सुतरां अनिन्द्य होने के कारण लज्जादि राहित्य से लोक-विरुद्ध भी नहीं है, किन्तु वह ही चतुर्दश भुवन में उपादेय है, सम्प्रति प्रतिपन्न हुआ है कि—बहु निवारणादि हेतु से ही शृङ्गार रस की परमोत्कर्षता है, इस का प्रकाश विशेष लक्षण स्वरूप "तदीयप्रेमवसतिः" पद से ही हुआ है। कारण,—गोपीगण परमदुःसह लोकलज्जा का अनादर करके एकमात्र श्रीकृष्ण प्रीति के लिए प्रवृत्त हुई थीं, श्रीकृष्णप्रीति ही सर्वशास्त्र का एकमात्र फल है। (भा० १०।३३।३०) कर्मादि पारतन्त्र्यरहित ब्रह्मादि ईश्वरगण की दुहितृ-कामना में प्रवृत्ति,—शास्त्रीय दोष दुष्ट होने पर भी सर्वभोक्ता अग्नि जिस प्रकार भक्ष्याभक्ष्य विधान से अतीत है, उस प्रकार तेजस्वी ब्रह्मादि दोष दुष्ट नहीं हैं। इत्यादि वचन प्रमाण से उक्त परकीया धर्म विरुद्ध एवं लोकविरुद्ध नहीं है।

"गोचारणायानुचरैश्चरन् वने यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितमिति" श्रीमदक्रूरवच्ने, अत्र पादेऽक्रूरेण श्रीकृष्णौपपत्यस्योल्लेखः कृतस्तत् खलु पितृव्यत्वेन दासत्वेन चेत्युभयथापि न युज्यते, किन्तूपादेयत्वेनैव, न च प्रीतिविशेषोल्लेख एव कृत इति वक्तव्यं तद्वाचकशब्दस्यानुपादानात्, एवमीदृशं वाक्यं बहुत्र श्रीभागवते द्रष्टव्यं। किं बहुना यत् खलु श्रीभागवतादिपुराणेषु नानाजातीयमुनिराजसभादिषु तदौपपत्यप्रतिपादिका रासलीला गीयते, तत्तु सुष्ठूपादेयत्वेनैव, नान्यथा सम्भवति। तासां तदेक-सुखार्थप्रवृत्तिस्तु, "यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु, भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेष्विति" श्रीभागवतोक्तेः, (भा० १०।३१।१९) तत्प्रीतेः सर्वशास्त्रफलत्वञ्च तत्रैवोक्तं (१०।२९।३३) यथा "कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः" इति टीका च कुशलाः शास्त्रनिपुणा इत्येषा ॥४३॥

चतुर्दश भुवन में गोपीयों की परकीया को महाजनगण परम उपादेय रूप से वर्णन किए हैं। (१०।३८।८) अक्रूर बोले थे,—जो चरण कमल, गो-चारण हेतु वयस्यगण के साथ वन वन में विचरण कर गोपीगण के कुचकुङ्कुम के द्वारा चिह्नित होता है, आज मैं उसका दर्शन करूँगा। इस श्लोक के शेष चरण में परकीया भाव व्यक्त हुआ है। किन्तु वह अयौक्तिक है, कारण अक्रूर में पितृव्यत्व एवं दासत्व उभय ही विद्यमान थे। उपादेयता के कारण कहा गया है, ऐसा भी नहीं कह सकते, उसमें प्रीति विशेष भी सूचित नहीं हुआ है, इस प्रकार प्रयोग श्रीभागवत में अनेक स्थलों में है। अधिक क्या बोले—श्रीभागवतादि पुराण में नाना जातीय मुनियों के समक्ष में राजसभादि में उक्त औपपत्य प्रतिपादक रासलीला का वर्णन होता है, उसका कारण ही उसकी उपादेयता है। गोपीगण की प्रवृत्ति श्रीकृष्ण सुखके लिए ही है, वह भी इससे ही पता चलता है। (१०।३१।१९) हे प्रिय ! तुम्हारे सुजात (परमकोमल) चरण कमल हमारे कर्कश स्तनमण्डल में हम सब सम्मर्दन शङ्का से भीत होकर अति धीरे धीरे धारण करतीं हूँ इत्यादि। श्रीकृष्ण में प्रीति

अथ परकीयाः; रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा। धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः॥ [उज्ज्वल, हरिप्रिया ७] अत्रापि रागेणैवार्पितात्मानो धर्मेनास्वीकृताश्च या स्ताः परकीया भवन्तीति सामान्यलक्षणं, ता एव चेत् लोकयुग्मानपेक्षिणा रागेणैवार्पितात्मानो भवन्ति, तदोत्तमाः परकीया इति विशेषलक्षणञ्च द्रष्टव्यम्। तत्र प्रासङ्गिकोरुत्तमाः परकीया उदाहरति, (७) "रागोल्लासविलङ्घितार्य्यपदवी विश्रान्तयोऽप्युद्धर,-श्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्येहिताः। आरण्या अपि माधुरीपरिमलव्याक्षिप्त-लक्ष्मीश्रिय,-स्तात्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखम्॥ ताः प्रसिद्धा कृष्णस्य सख्यः परकीयात्वाभिमानेनैव सख्यं

ही सर्वशास्त्र फलस्वरूप है, वह भी (१०।२९।३३) में वर्णित है,— कुशलगण ही तुम्हारे प्रति प्रीति करते हैं। श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं—कुशल=शास्त्रनिपुण है ॥४३॥

सम्प्रति **परकीया** के विषय को कहते हैं—जो रमणी इहलोक, परलोक सम्बन्धी धर्म की अपेक्षा को छोड़कर राग (आसक्ति) हेतु परपुरुष में आत्मसमर्पण करती है, एवं जिसका ग्रहण राग से ही होता है, विवाह विधि से नहीं, वह ही परकीया है। इसमें सामान्य परकीया वह है, अनुराग से आत्मसमर्पण, एवं विवाह धर्म के विना स्वीकार है। उत्तमा परकीया वह होगी, जो लोकद्वय की अपेक्षा को छोड़कर अनुराग से आत्मसमर्पण करती है, एवं उस प्रकार अनुराग से ही नायक द्वारा गृहीता होती है। यह ही विशेष लक्षण है। उज्ज्वल में उत्तमा परकीया के उदाहरण वाक्य इस प्रकार है,- श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागाधिकच से एक व्रजवाला धर्म-मर्य्यादा की अन्त्य सीमा को भी उल्लङ्घन कर चुकी है। तथापि अरुन्धती प्रभृति महासती वृन्द उनके निकुञ्ज के लिए अभिसारादि सकल लीला की प्रशंसा करतीं हैं। परकीया रमणी वनचारिणी है, किन्तु उनके माधुर्य-परिमल से लक्ष्मी की श्री विश्री हो जाती है। अतएव त्रिभुवन विलक्षण कृष्णप्रेयसीगण तुम्हारे मङ्गलविधान करें। उक्त

कुर्वाणा, न तु कदापि पत्नीत्वाभिमानवत्य इत्यर्थः, वो युष्माकं श्रोतॄणां सुखं ददतु तास्वेव विशेषलक्षण-सङ्गतये ता विशिनष्टि—त्रैलोक्यविलक्षणा इति, त्रैलोक्यात् त्रिलोकस्थितस्वकीयापरकीया-प्रमदावृन्दाद्विलक्षणा इत्यर्थः। तदेव वैलक्षण्यं दर्शयति—रागोल्लासेत्यादिना, रागस्योल्लासेनाधिक्येन विलङ्घिता अतिक्रान्ता आर्य्यपदव्याः पातिव्रत्यलक्षणसाधुमार्गस्य विश्रान्तिरवधिर्याभिस्ताः; अनेन रागस्य लोकयुग्मानपेक्षित्वं दर्शितम्। एवम्भूता अपि श्रद्धया रज्यत् अरुन्धतीमुखसतीवृन्दं तेन वन्द्यं परमादरेण श्लाघितमीहित परकीयात्वलक्षणं चेष्टितं यासां ताः, तथा आरण्या वनवासिन्योऽपि माधुरीणां परिमलेणातिशयेन विशेषेणाक्षिप्ता दूरीकृता लक्ष्मया अपि श्रीः शोभा याभिस्ताः। का स्ताः कृष्णस्य सख्यः, कतिविधाश्चेत्य-पेक्षायामाह—[उज्ज्वल हरिप्रिया ८] "कन्यकाश्च परोढ़ाश्च परकीया द्विधा मताः। व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः"

श्लोक का विश्लेषण इस प्रकार है,—प्रसिद्ध कृष्ण सखीगण, परकीयात्व अभिमान से ही जिन्होंने कृष्ण से सख्य किया है, किन्तु कभी भी पत्नित्व अभिमान नहीं करतीं हैं। वे सब श्रोतागण का सुख प्रदान करें। विशेष लक्षण सङ्गति के लिए कुछ विशेषण देते हे,—त्रैलोक्य-विलक्षण—त्रि-भुवनस्थित स्वकीया परकीया प्रमदा वृन्द से विलक्षण है। उस वैलक्षण्य इस प्रकार है, राग के उल्लास (आधिक्य) से विलङ्घित आर्य पदवी, अतिक्रान्त हुई है आर्यपदवी, (जिनसे पातिव्रत्य रूप साधुमार्ग को) विश्रान्ति (अवधि) जिन से लङ्घित हुई है। इससे राग में लोकद्वय की अपेक्षा राहित्य को दिखलाया गया है। व्रजाङ्गना परकीयारमणी होने पर भी अरुन्धती प्रमुख सतीवृन्द श्रद्धा से इन की परकीया को प्रशंसा करती रहती हैं, यह सब बनवासि भी होने पर भी माधुर्य राशि के परिमल के द्वारा लक्ष्मी की शोभा को भी म्लान कर देतीं हैं, उन कृष्णानु-रागिणी कितनी हैं, एवं उनके प्रकार कितने हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—परकीया नायिका द्विविध हैं। कन्यका, परोढ़ा यह सब

इति पूर्ववत् प्रच्छन्नकामुकत्वादिहेतुभिरत्रैव श्रृङ्गारस्य परमोत्-कर्षतामाह—"प्रच्छन्नकामुकता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदेति।" अत्र परकीयाविशेषे यस्मात् गोकुलेन्द्रस्य परमरसरसिकशेखरस्य सौख्यदा प्रच्छन्नकामुकतास्ति, अतोऽत्रैव श्रृङ्गारस्य परमोत्कर्षत्वे रुद्रादि-वाक्यं प्रमाणयति, तथाहि रुद्रः "वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा। तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्॥" स्त्रीणां स्वभावत एव या वामता यच्च परकीया-निबन्धनं तासां दुर्लभत्वं, या च तन्निबन्धना निवारणा तत्सर्वमेव कामस्य परममायुधं वशीकरणोपायमहं मन्ये। विष्णुगुप्तसंहितायाञ्च—"यत्र निषेध-विशेषः दुर्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणां। तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्जते हृदयमिति॥" (६) यत्र परकीयात्वे इत्यर्थः। ननु सामान्य-परकीयात्वेऽपि दुर्लभत्वाद्यास्तीत्याशङ्क्य पूर्ववत् भरताद्यसम्मतत्वेन तदुत्थाप्य दूषयति "नासौ नाट्ये रसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते। तत्तु स्यात् प्राकृतक्षुद्रनायिकामनुसारत इति," (उज्ज्वल, नायिका २)। मुख्ये श्रृङ्गारे रसे असौ परोढ़ा परकीया न निबध्यते

प्रायकर नन्दव्रजवासिनी हैं, इन सब की प्रच्छन्न कामुकता, परम रसिकशेखर गोकुलनवयुवराज की सुखदायिका हैं। इस में भी पूर्ववत् प्रच्छन्न कामुकत्व प्रभृति हेतु समूह की विद्यमानता से परकीया में ही श्रृङ्गार रस की परमोत्कर्षता प्रतिपादित हुई है। अतएव परकीय श्रृङ्गार के परमोत्कर्ष में प्रमाण देतें है। रुद्र कहते हैं,—स्त्रीगण की वामता, परकीया निबन्धन दुलर्भता, एवं तज्जन्य निवारण, यह ही पञ्चबाण कामदेव के परमास्त्र वशीकरणोपाय है। विष्णुगुप्त संहिता में उक्त है,—जिस परकीया में सुन्दरीयों के लिए विशेष निषेध एवं दुर्लभता विद्यमान है,—उसमें ही नागरों के चित्त सविशेष आसक्त होते हैं। सामान्य परकीया में भी दुर्लभतादि है, इस प्रकार आशङ्का करके पूर्ववत् भरतादि की असम्मति होनेसे उस मत को उठाकर उसमें दोष दिखाते हैं,—नाट्य एवं श्रृङ्गार रस में परोढ़ा निबद्ध होना युक्तियुक्त नहीं है, किन्तु प्राकृत क्षुद्र

इति यत् तत्तु प्राकृत-क्षुद्रनायिकामनुसारतः सामान्य परकीयैव सा, न तु मुख्यपरकीया इत्यर्थः। तथाहि साहित्यदर्पणे [तृतीये रसभेद-प्रकरणे] 'परोढ़ां वर्ज्जयित्वात्र वेश्याञ्चाननुरागिणीं। आलम्वनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः' इति। तत्रर्थे चकारः, स्वीयान्तु—अननुरागिणीमेवेत्यर्थः। मुख्यपरकीयात्वस्य तु परमोत्कर्षत्वं रुद्रवाक्येन विष्णुगुप्तसंहितावाक्येन च दर्शितमपि सुदेव-वाक्येनापि स्पष्टं तद्दर्शयितुमाह--तथा चोक्तमिति, अतिप्राचीनेन रसविलासकर्त्रा सुदेवेनेति शेषः। तदाह—"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा। तद्गोकुलाम्वुजदृशां कुलमन्तरेण ॥ आसंशया रसविधेरवतारितानाम्। कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेणेति," (३) अङ्गिनि शृङ्गाराख्ये रसे कविभिर्भरतादिभिर्नेष्टा मुख्यतया न स्वीकृतेति यत् तत्तु गोकुलाम्वुज-दृशां कुलमन्तरेण विना इति, तास्तु इष्टा, इत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भं

नायक पर ही यह मत है, अर्थात् सामान्य परकीया की बात ही इसमें है, किन्तु मुख्य अप्राकृत परकीया में प्रयुक्त नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने कहा है—शृङ्गार रस में परोढ़ा, वेश्या, अननु-रागिणी न होनेसे नायिका एवं दक्षिणादि नायक आलम्वन हो सकता है। श्लोकस्थ 'च'कार 'तु' अर्थ में हैं। स्वीया किन्तु अननुरागिणी होनेसे उसको भी वर्जन करें, यह ही तात्पर्य है। मुख्य परकीयात्व का परमोत्कर्ष रुद्र एवं विष्णुगुप्त संहिता के वाक्य से प्रदर्शित होने पर भी, सुदेव के वाक्य के द्वारा भी स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए कहते हैं। तथा चोक्तमिति—अति प्राचीन रस-विलास कर्त्ता सुदेव ने कहा है,—प्राचीन पण्डितगण भरतादि ने मुख्य रस शृङ्गार में परकीया रमणी को मुख्यभाव से स्वीकार नहीं किया है,—किन्तु प्राकृत नायक पर है। किन्तु व्रजदेवीगण इस से निषिद्ध नहीं हुई है,—कारण यह सब परकीया के मुख्य उदाहरण है। कारण रसिकमण्डलभूषण श्रीकृष्ण रस विशेष का आस्वादन की आकाङ्क्षा से उक्त गोपी समूह को अवतारण कराये थे। गोपीगण में परकीया इष्ट है क्यों? उसको प्रतिपादन करने के

तासां विशेषणं यदप्रकटलीलायां परमालौकिकपरकीयारसविधानं तद्वत् प्रकटलीलायामपि करिष्यामीत्यभिप्रायेण प्रपञ्चेऽपि रसविधेरासंशया परमोत्कण्ठामय-परकीयारसविशेषस्यास्वादनेच्छया-वतारितानां यथास्थितमेव नित्यलीलातः प्रकटप्रकाशमानीतानां, यास्तु देवाङ्गना स्ताः स्वप्रेयसीनां सख्यादिना साहाय्यार्थमवतारिता इति द्रष्टव्यम्। "तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रिय" इति श्रीभागवतात् (१०।१।२३), कंसारेः स्वतन्त्रत्वाद्रसापेक्षा न स्यादित्याशङ्क्याह— रसिकेति, रसिकवृन्दशिरोधार्य्येणेत्यर्थः। अथ तासां प्राकृतपरकीयाभ्यः परमरसावहं विशेषान्तरमाह —(उज्ज्वल–कृष्णवल्लभा १९) 'माया-कलिततादृक् स्त्रीशीलनेनानुसूयुभिः। न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गम इति" मायया कलिता तेषां व्यवहारार्थं निर्मिता यास्तादृश्य आकारवर्णवेशस्वभावादिना स्वपत्नीतुल्याः स्त्रियस्तासां

लिए हेतुगर्भ विशेषण दिया है,—'अवतारित' इत्यादि। अप्रकट लीला में जो परम अलौकिक परकीया रसरीति है,उसका आस्वादन प्रकटलीला में भी कहेंगे। इस अभिप्राय से प्रपञ्च में भी परमोत्-कण्ठामय परकीया रस-विशेष का आस्वादन करने की इच्छा से 'अवतारित' अर्थात् यथावस्थित नित्यलीला से प्रकट प्रकाश में आनीत है। गोपियों के सम्बन्ध में उक्त निषेध प्रयोज्य नहीं है। जो सब देवाङ्गना थीं,—स्वप्रेयसीयों की सखीत्वादि के द्वारा साहाय्य करने के लिए उन सब को अवतारित किए थे। यह भी समझना होगा। कारण (भा० १०।१।२३) उनकी प्रिया गोपीयों को सहायता के लिए देवस्त्रीगण मर्त्यलोक में अवतीर्ण हो, यह उक्ति है। कंसारि स्वतन्त्र होने के कारण उनका रसापेक्षा नहीं भी हो सकती है,—इस आशङ्का का समाधान करते हैं। रसिकवृन्द शिरोमणि द्वारा अवतारित अर्थात् रसिकवृन्द शिरोमणि की रसापेक्षा नहीं है, ऐसी बात हो हो नहीं सकती। सम्प्रति प्राकृत परकीया नायिका से परम रसावह अन्य विशेषत्व को कहते हैं। गोपीगण परोढ़ा ही थीं। तथापि उनके पति के साथ सङ्गम नहीं

शीलनेन संभोगादिना अनसूयुभिरदोषदर्शिभिः। तत्र मानमाह [भा० १०।३३।३८] "नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया। मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस" इति। अतो [भा० १०।२९।२०] "मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च व" इति श्रीकृष्णवाक्यं तदीयभ्रातृपुत्रादीनपदिश्य परिहासमयमेव। क्वचित् तद्विधपुत्रादिव्यपदेशोऽपि दृश्यते-यथा साम्वकृतलक्ष्मणाहरणे श्रीबलदेवमुद्दिश्य [भा० १०।६८।५२] "प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं भगवान् सात्वतर्षभः। ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिरभिनन्दित" इति, अतएव श्रीशुकेनापि [भा० १०।२९।६] "पाययन्त्यः शिशून् पय"

हुआ है। अभिसारादि के समय योगमाया कल्पित तादृश गोपी मूर्त्ति को घर में देख कर गोपगण समझ जाते थे कि—मेरी पत्नी मेरे घर में ही है। सुतरां वे सब कृष्ण के प्रति असूया भी नहीं करते थे। माया के द्वारा कल्पित, गोपों के व्यवहार निर्वाह के लिए निर्मित हुआ है, जो मूल गोपीगण सदृश आकार वर्णवेश स्वभावादि द्वारा निज निज पत्नी तुल्य स्त्रीगण हैं, उनके शीलन संभोगादि करके गोपगण असूया रहित हुए थे। एसका प्रमाण देते हैं—(भा० १०।३३।३८) व्रजवासीगण भगवन् माया से मुग्ध थे, अतः पूर्वोक्त आचरण के प्रति दोषारोपण नहीं किए। फलतः वे सब भगवान् की माया से रचित निज निज पत्नीगण को निज निज समीप में देख कर (शय्यादि में नहीं) आनन्दित थे। अतएव (भा० १०।२९।२०) में श्रीकृष्ण कथित तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भ्राता, एवं पतिगण इत्यादि वाकच से भ्रातृ-पुत्रादि को लक्ष्य कर परिहास के च्छल से ही प्रकाशित हुआ है, तभी तो उस प्रकार भ्रातृ-पुत्रादि को लक्ष्य कर भागवत (१०।६८।५२) में पुत्रादि शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार साम्वकृत लक्षणा हरण में बलदेव के उद्देश्य में—भगवान् यादवश्रेष्ठ श्रीबलदेव दुर्योधन प्रदत्त उपढौकन द्रव्य-समूह को लेकर सुहृद्गण के द्वारा अभिनन्दित होकर सुत अर्थात् कृष्णपुत्र साम्त्र एवं स्नुषा लक्ष्मणा को लेकर

इत्यत्र शिशुशब्द एव प्रयुक्तो न तु पुत्रशब्दः ; किञ्च, (भा० १०।३३।६) "मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा," इति नायकमणि-दृष्टान्तेन "तड़ित इव ता मेचचक्रे विरेजुरिति" (१०।३३।७) तड़ित् दृष्टान्तेन च नवकिशोरस्य श्रीकृष्णस्य देहपरिमाणादपि तासां देहानां स्वल्पपरिमाणतोक्त्या तासां नवकिशोरीत्वावगमाच्च तदाशङ्का-लेशोपि न सम्भवतीति ।।४४।।

अथ नित्यलीलायामपि प्रकटवदेवौपपत्यादिकमित्याह, "हरेर्लीला-विशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः। वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ । वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः। हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचिदिति" (उज्ज्वल-संयोगवियोग १) । रासादि-

---

द्वारका में लौट आए। अतएव श्रीशुकदेव ने भी कहा है— (भा० १०।२९।६) कोई कोई गोपी शिशु अर्थात् भग्नी-पुत्र अथवा याता के पुत्रगण को दुग्ध पान कर रहीं थीं। यहाँ पर पुत्र शब्द का प्रयोग न करके शिशु शब्द का ही प्रयोग हुआ है, और एक बात है कि—(भा० १०।३३।६) उस रासमण्डल में वर्त्तुलाकार से मणिवत् निर्मित हेमवर्ण मणिसमूह के मध्य में जिस प्रकार इन्द्र-नीलमणि शोभित होती है,—इस वाक्य में कृष्ण को नायकमणि के दृष्टान्त से एवं परवर्त्ती श्लोक में कृष्णबधूगण को मेघमण्डल में चपला की भाँति विराजित हैं,—कहा गया है, इससे बोध होता है कि—नवकिशोर श्रीकृष्ण के देह परिमाण से गोपीयों के देह परिमाण स्वल्प था, अतएव वे सब नवकिशोरी रहीं, सुतरां उस समय पुत्र-प्रसव की आशङ्का भी नहीं हो सकती है ।।४४।।

सम्प्रति नित्यलीला में भी प्रकटलीला की भाँति औपपत्य हो सकता है, उसका प्रदर्शन करते हैं। उज्ज्वलस्थ संयोग-वियोग-स्थिति प्रकरण में श्रीकृष्ण की प्रकटलीला विशेष के अनुसार व्रजबालाओं को विरहावस्था वर्णित हुई है। वृन्दावन में सर्वदा रासादि क्रीड़ा करके विहार परायण श्रीकृष्ण के साथ व्रजदेवीओं

विभ्रमैर्विहरतेत्यनेन स्पष्टमप्रकटलीलायामपि तस्यौपपत्यमुक्तम् । आदिशब्दाद यलीलादेर्ग्रहण, न हि स्वकीयायां तादृशलीला सम्भवति, अत्र प्रमाणमाह–तथा च पाद्मे पातालखण्डे मथुरामाहात्म्ये गोगोप-गोपिकासङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहेति। अत्र गोपिकाशब्दाद्गोप-पत्नीत्वोपस्थितेरप्रकटप्रकाशेऽपि तस्य तास्वौपपत्यं प्रकटं प्रतीयते । तथाहि (अष्टाध्यायी ४।१।४८) पुंयोगादाख्यायामित्यनेन ईप्विधानाद् गोपानां पत्नचो गोप्य इति भवति, ततश्च स्वार्थिक-कप्रत्यये 'केऽण.' (७।४।१३ अष्टाध्यायी) इत्यनेन ह्रस्वे कृते गोप्य एव गोपिका इति सिद्धचतीति "जातेरस्त्रीविषयादयोपधादित्यनेन (अष्टाध्यायी ४।१।६३) 'त्वत्र भीष् न भवति, गोपशब्दश्च जातिवान्, अतएव श्रीरामचन्द्राचार्य्यचरणै महाभाष्यादिरहस्यविद्भिर्भट्टोजिदीक्षितैरपि पुंयोगादाख्यायामित्यत्रैव या गोपशब्द उदाहृतः, पुरुषोत्तमदेवेनाप्ये-वमेवाभिप्रेतम् । अस्मिन्नेव सूत्रे गोपालिकादीनां प्रत्युदाहृतत्वात्, अतो गोपी गोपजाति-स्त्रीति वाख्यानमत्यन्तहेयमेव ; ननु गोगोप-शब्दस्य क्रियावाचित्वे सत्यपि "आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानाश्च न सवभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रश्च चरणैः सह ॥" इत्यनेन पारिभाषिकं जातित्वमपि स्यात्, तथा ह्यस्यार्थः, जातिस्तावद्द्विधा

का कभी भी विरह नहीं है। इस वाक्य में "रासादि विलास के द्वारा विहार परायण" शब्द से अप्रकट लीला में भी उनका औपपत्य है, उसका बोध होता है। "रासादि" पद के आदि शब्द से अन्यान्य लीलादिका भी ग्रहण होता है। स्वकीया में किन्तु उस प्रकार चित्त चमक्प्रद लीला की सम्भावना नहीं है। उसका प्रमाण—पद्मपुराणस्थ पातालखण्ड के मथुरा माहात्म्य में है। जहाँपर गो, गोप, गोपिका के साथ कंसहा क्रीड़ा करते रहते हैं,— यहाँ के 'गोपिका' शब्द गोपपत्नीत्व का बोधक है, एवं अप्रकट प्रकाश में भी श्रीकृष्ण के गोपीगण के सम्बन्ध में औपपत्य ही उससे प्रकट होता है। कारण—जाति आकृति द्वारा ग्राह्य, सब लिङ्ग में उसका रूप नहीं होता है। एकवार उच्चारण से ही निश्चित रूपसे

एका नियत-व्यञ्जकव्यङ्ग्या, अपरा चोपदेशगम्येति, तत्राद्यां लक्षयति–आकृतिग्रहणेति आकृत्या संस्थान-विशेषेण गृह्यत इत्याकृति-ग्रहणा, यथा मृगत्वादि, एतेन मृगी हंसीत्यादि सिध्यति। ब्राह्मणत्वादेः संस्थानग्राह्यत्वाभावात्तत्राव्याप्तिरिति लक्षणान्तरमुक्तं लिङ्गानां च न सर्वभागिति असर्वलिङ्गेत्यर्थः। अनेनोपदेशगम्या जातिर्लक्षिता यथा ब्राह्मणत्वादि, ब्राह्मणत्वं हि संस्थानेन न व्यज्यते, तस्य क्षत्रियत्वादितुल्यत्वात्, किन्तु ब्राह्मण्यामुत्पन्नोऽयमित्युपदेशमात्रगम्या,

---

उसका ज्ञान होता है, एव अपत्य-प्रत्ययान्त एव वैदिक देशवाचक शब्द समूह भी जातिवाचक है। इसका अर्थ यह है कि जाति दो प्रकार है, एक—नित्यव्यञ्जक वस्तु द्वारा गम्य, द्वितीय—उपदेश गम्य है। आद्या जाती का लक्षण कहते हैं,—आकृति संस्थान विशेष द्वारा गृहीत जो होती है। वह आकृति ग्रहणा, यथा—मृगत्वादि। इससे मृगी, हंसी इत्यादि पद भी सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि—आकृति से जिसका बोध होता है, वह जाति है। और मनुष्यत्व प्रभृति, तथा मनुष्य प्रभृति प्राय कर एक ही बात है। इस प्रकार मान लेने पर जाति पदार्थ का बोध सुलभ होता है। जाति का उदाहरण—मनुष्य अथवा मनुष्यत्व प्रभृति के हस्त पदादि विशेष विशेष आकृति को न जानने से मनुष्य अथवा मनुष्यत्व को जाना नहीं जाता है। भिन्न भिन्न आकृति के द्वारा भिन्न भिन्न जाति का बोध होता है। मनुष्य को देखकर वृक्ष का बोध नहीं होता है, कारण उभय की आकृति पृथक् है। किन्तु ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि की आकृति को देख कर जाना नहीं जाता है। इसलिए द्वितीय लक्षण कहा जाता है। जोसब, सब लिङ्ग को ग्रहण नहीं करते हैं, वे सब भी जातिवाचक होते हैं, जैसे ब्राह्मणत्वादि। इससे ही उपदेश बोध्या जाति सूचित हुई है। ब्राह्मणत्वसंस्थान विशेष के द्वारा व्यञ्जित नहीं होता है, कारण वह आकृति क्षत्रियत्वादि के तुल्य ही है, किन्तु ब्राह्मणत्व का बोध कराने के लिए यह ब्राह्मणी से उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहना होगा।

तथाप्यसर्वलिङ्गत्वाद्भवति जातिः, ब्राह्मणो ब्राह्मणीति द्विलिङ्गत्वात्; एवं तर्हि देवदत्तो देवदत्तेति द्विलिङ्गत्वाद्देवदत्तत्वमपि जातिः स्यादित्याशङ्क्य विशिनष्टि— सकृदित्यादि, सकृदेकस्मिन् पिण्डे आख्याता उपदिष्टा सती निर्ग्राह्या तत्पिण्डारम्भकावयवानारब्धे पिण्डान्तरे निश्चेतुं शक्या, यथा ब्राह्मणत्वादिः। देवदत्तत्वं तु न जातिः, अवस्थाभेदभिन्नानेकपिण्डवृत्तित्वेऽपि तदवयवानारब्धे पिण्डान्तरे तदनुपलब्धेः; स्पष्टमन्यत्— तदेवं स्थिते गोपो गोपीति द्विलिङ्गत्वाद्गोपत्वमपि जातिः स्यादिति तद्धेयं। गाः पाति गोपः पुमान् गोपी स्त्री गोपं वंश्यं कुलमिति गोपशब्दस्य सर्वलिङ्गत्वात्, किञ्च यत्र हि केनापि सूत्रेण ङीप् न प्राप्तस्तत्र ङीप्-विधानार्थमेतल्लक्षणम् अप्राप्तप्रापकत्वादस्य लक्षणस्य, अत्र तु पुंयोगादित्यनेनैव ङीप्सिद्धेर्व्यर्थं तद्विधानमित्यलं विस्तरेण ॥४५॥

तब असर्वलिङ्ग होनेसे ही जाति होती है। जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द पुंलिङ्ग होता है, ब्राह्मणी शब्द स्त्री-लिङ्ग है। इस नियम के अनुसार देवदत्त एव देवदत्ता शब्द भी उभयलिङ्ग होने के कारण देवदत्त भी जाति हो? इस आशङ्का का निरसन हेतु उभय लक्षण का हो विशेषण देते हैं,—एकबार, एक आधार में उपदेश करने से ही, निश्चय रूप से किसी एक श्रेणी का ज्ञान होना आवश्यक है, जैसे ब्राह्मणत्वादि। देवदत्तत्व जाति नहीं है, अवस्था भेद से भिन्न अनेक पिण्ड में उसकी वृत्ति होने परभी उसके अवयव के अनारम्भक अन्यान्य आधार में भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है। वेदैव देश क्रियावाचक कठादि शब्द एवं वाचक—यह ही तृतीय लक्षण है। इस प्रकार स्थिर सिद्धान्त होने पर गोप-गोपी शब्द द्विलिङ्ग होनेसे गोपत्व भी जाति हो,—यह मत हेय रूप से प्रतिपादित हुआ है। जो गोपालन करता है, वह गोप (पुरुष) है, गोपी (स्त्री) गोपकुल (क्लिवलिङ्ग) है, कारण गोप शब्द सर्वलिङ्ग है। अधिकन्तु जब किसी सूत्र के द्वारा ङीप् को प्राप्ति नहीं होती है, तब ङीप् विधान के लिये ही (४।१।६३) सलक्षण कहा गया है, कारण उक्त लक्षण—

"एवं चानेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव सः। नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धन ॥" इति श्रीदशाक्षरव्याख्यातृ गौतमीय-तन्त्रवाक्येऽपि तस्योपपतित्वमेव स्फुटम्। गोपीनां गोपपत्नीनां पतिरित्युक्ते उपपतित्वस्यैवोपस्थितेः, एवं गोपीभर्त्तुः पदकमलयो-रित्यत्र (पद्यावली ७४) पुरा यस्यां गोपीरमणो विदधे, इत्यादौ च भर्तृ रमणादिशब्दात् गोपीशब्दसाहचर्य्यादुपपतित्वमेवाभिदधति। तथा गोपालतापन्यां 'स वो हि स्वामी भवति, इति व्रजसुन्दरीः प्रति दुर्वाससो वाक्येऽपि स श्रीकृष्णः वो युष्माकं गोपपत्नीनां स्वामी उपपतिरित्येवार्थः प्रतीयते। यत्तु 'त्वां पातु राधाधव' (पद्यावली २६१) इत्यत्र धव-पदं तदपि राधो (स्या) वैशाखमासे स्याद्राधा गोप्याञ्च विदुरितीति विश्वप्रकाश-दृष्ट्या राधापदं गोपपत्न्यां

अप्राप्य-प्रापक है। यहाँपर 'पुंयोगादाख्यायां' इस सूत्र से ङीप् विधान होनेसे पुनर्बार 'जातेरस्त्रीविषयत्वादि' सूत्र द्वारा उसका विधान करना व्यर्थ होगा ॥४५॥

इस प्रकार "त्रैलोकच के आनन्द वर्द्धन वह श्रीनन्दनन्दन अनेक जन्मसिद्ध गोपीयों के पति हैं" दशाक्षर व्याख्या प्रसङ्ग में गौतमीय तन्त्र का यह वाकच भी उनका उपपतित्व का परिष्कार रूप से बाधक है। गोपियों के अर्थात् गोप पत्नीयों के पति—यह कहने से उपपतित्व की ही उपलब्धि होती है। इस प्रकार "गोपी भर्त्ता के पदयुगल में दासानुदास" गोपी रमण जिस में विधान करते हैं, इत्यादि में भर्तृ एवं रमणादि शब्द से गोपी शब्द के साहचर्य्य से उपपतित्व की ही उक्ति हुई है। गोपालतापनी में उक्त है—"वह तुम्हारे स्वामी है"—दुर्वासामुनि व्रजसुन्दरीगण को कहे थे। उसका अर्थ भी इस प्रकार है—वह श्रीकृष्ण गोपपत्नी तुम्हारे स्वामी उपपति है, यह अर्थ ही प्रतीतिगम्य है। और 'तुम्हें राधाधव पालन करें'। इस वाकच में 'धव' पद व्यवहृत हुआ है। वह भी विश्व प्रकाश अभिधान के मत से ही हुआ है। कारण राधा शब्द से वैशाखमास, एवं राधा शब्द से गोपीका बोध होता है। अतएव

रूढ़त्वात् तत्साहचर्य्यादुपपतित्वमेवाभिदधाति। अतएव प्रकट-लीलान्तरमपि तासामुपपतित्वेनैव तत्प्राप्तिरुक्तास्त्रैकादशे (१२।१३) यथा "मत्कामा रमण जारमस्वरूप-विदोऽबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रश" इति। अस्यार्थः ता अबलाः श्रीव्रजदेव्यः मां प्रापुः किम्भूतं मां ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपं 'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितमिति' श्रीविष्णुपुराणोक्तेर्भगवन्तमित्यर्थः; तथा परा मा शोभा यस्य तं परमबुद्धिवेद्यं तथा रमणं रतिजनकं तद्बुद्धेर्वेद्यञ्चेत्यर्थः, अतएव जारमुपपतिरूपमेव मां प्रापुः। तत्र तासां हेतुगर्भ विशेषणद्वयं मत्कामाः उपपतिरूपे मयि कामोऽभिलाषो यासां ताः, तदुक्तं ताभिरेव (१०।३१।१६) "पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागता" इत्यादि स्वयं श्रीकृष्णेनापि (१०।४६।४) "ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका" इति अतएवास्वरूपविदः

'राधा'-पद गोपपत्नी में ही रूढ़ है। उसके साथ पाठ होने से 'राधाधव' पद से राधा के उपपति का ही बोध होता है। अतएव प्रकट लीला के बाद भी गोपियों के उपपति स्वरूप में ही कृष्ण प्राप्ति की कथा (भा० ११।१२।१३) में लिखित है। एवं वह गोप-नारीगण,—शतसहस्र नारीगण केवल मेरी कामना करके मेरा स्वरूप को न जान कर भी जार बुद्धि से रमण बुद्धि से मेरा सङ्ग प्राप्त कर परम ब्रह्मस्वरूप मुझ का प्राप्त किये हैं। 'बृहत्त्व एवं बृंहणत्व (पुष्टिकरत्व) है, जिस स्वरूप में मुझे ब्रह्म कहते हैं। विष्णु-पुराण के इस वचन से 'ब्रह्म' शब्द से भगवान् का बोध होता है। 'परम' शब्द की व्युत्पत्ति—परा (श्रेष्ठा), मा (शोभा), जिस का आप परम हैं, उस परम बुद्धिवेद्य एवं रमण (रतिजनकबुद्धिवेद्य), अतएव जार-(उपपति) रूप मुझ को प्राप्त किए थे। उन सबका हेतुगर्भ विशेषण—(१) 'मत्कामाः' अर्थात् उपपति स्वरूप मुझ में काम (अभिलाष) है जिसका, यह बात उनकी ही है। (१०।३१।१६) हे अच्युत! हमसब पति, पुत्र, सम्बन्ध, बन्धु-बान्धव इत्यादि को छोड़ कर तुम्हारे पास आई हूँ। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी कहा है,—

ब्रह्मस्वरूपं न विदन्ति स्वप्नेऽपि न जानन्तीति तास्तथा, अस्य विष्णोः परममनोहरत्वेन हृदयप्रवेशन-शीलस्य मम स्वरूपमुपपतित्व-लक्षणं विदन्तीति तथेति वा; विशतेर्लुक्प्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुरिति। न केवलं ता एव प्रापुरपि तु तत्सङ्गादन्या अपि शतसहस्रश स्तथा प्रापुरिति। यद्वा परमं ब्रह्म स्वयं भगवन्तमपि मां जारं जारबुद्धि-वेद्यं सन्तं प्रापुरित्यन्वयः। शेषं समानं। जारस्तूपपतिः समावित्यमरः। उपपतिशब्दाच्चोक्तप्रकारेण श्रीकृष्णतत्प्रेयसीनां साहचर्ये मुख्य-पत्युरुपस्थितिः, अन्यत्र तु हीन-पत्युः। उपोऽधिके हीने चेति पाणिनीय (१।४।८७) स्मरणात्, रमणशब्दाच्च रतिजनकत्व-पुरस्कारेण प्रियसामान्यस्यैवोपस्थिति र्न तु पत्युः। अतएव विश्वप्रकाशे 'रमणं स्यात् पटोलस्य मूलेऽपि रमणः प्रिये', इत्येवोक्तं, न तु रमणः पतावित्युक्तम्। अन्यथा व्याख्याने तु ये यथा मां

(भा० १०।४६।४) गोपीगण मेरे में मन-प्राण सौंप चूकीं हैं, मेरे लिए दैहिक क्रियादि का त्याग किए हैं,—इत्यादि। अतएव (२) वे सब अस्वरूपवित्=मेरा ब्रह्मस्वरूप को नहीं जानतीं हैं, स्वप्न में भी नहीं सोचती हैं, अथवा अ (विष्णु) परममनोहर होनेसे हृदय प्रवेशन-शील मेरा जो उपपति-लक्षण स्वरूप उसको ही वे सब जानतीं थीं। विश् धातु नुक् प्रत्यय द्वारा विष्णु पद सिद्ध हुआ है। केवल नित्यसिद्ध गापीगण ही मुझ को प्राप्त कर चुकीं हैं, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उन सब के साथ शतसहस्र नारी भी उस भाव से (गोपी आनुगत्य से) मुझ को प्राप्त कर चुकीं है। अमरकोष में जार एवं उपपति शब्द समार्थक है। उपपति शब्द से प्रदर्शित प्रकार से श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसीगण के साहचर्य से मुख्य पति का ज्ञान होता है, एवं अन्यत्र हीन पति का भान होता है, कारण पाणिनि व्याकरण में उपशब्द अधिक एवं हीनार्थ वाचक दृष्ट होता है। विश्वप्रकाश में रमण शब्द का अर्थ पटोलमूल एवं प्रिय है, किन्तु रमण शब्द का अर्थ पति नहीं है। अन्य प्रकार से व्याख्या करने पर "जो लोक जिस भाव से मेरी शरण ग्रहण करता है, मैं उसका

प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमिति' [गीता ४।११] भगवत्प्रतिज्ञा 'रामेण सार्द्धमित्यादि' (११।१२।१०-१२) श्लोकत्रय्या वर्णितो जारबुद्धेरुत्कर्षश्च विरुध्येत। यत्तु जारबुद्धिवेद्यमपि ब्रह्मस्वरूपमेव मां परमं प्रापुरिति वदद्भिः स्वामिचरणै जारबुद्धेर्न्यूनत्वमभिप्रेतं, तत्तु मतान्तरावलम्बनेन, स्वमते तु तस्या प्रत्युत श्रेष्ठत्वमेवाभिप्रेत, 'न पारयेऽहं निरवद्यसयुजामि'त्यत्र (१०।३२।२२) युष्मत्सौशील्येनैव ममानृण्यं, न तु मत्कृतप्रत्युपकारेनेत्यनेन ॥४६॥

ननु 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीण-बन्धना' इत्यत्र (१०।२९।११) श्रीशुकेनाप्यपिशब्देन जारबुद्धेर्न्यूनत्वमेव स्वीकृतमिति चेत् तत्रापि तस्या उत्कर्षस्यैव

भजन उस भाव से ही करता हूँ।" भगवद्गीतोक्त इस वचन से श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा एवं (भा० ११।१२।१०-१२) तीन श्लोक में वर्णित— मेरे प्रति एकान्त अनुरक्त गोपीगण मुझे ब्रह्म न जान कर भी एवं उनके सङ्ग से शतसहस्र रमणीगण रमणबुद्धि से उपपति रूप से मुझ को ग्रहण कर परब्रह्म स्वरूप मुझ को प्राप्त किए हैं। अतएव हे उद्धव! श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य, एवं श्रुत समस्त को विसर्जन कर सर्वभाव से सर्वदेहि के शरण्य परमात्मा मेरी शरण लो। मैं तुम्हें अकुतोभय करूँगा। इस प्रकार जार बुद्धि का उत्कर्ष भी विरुद्ध हो जाता है। तब जो श्रीधर स्वामीपाद ने 'जारबुद्धि वेद्य' होने पर भी ब्रह्मस्वरूप मुझ को प्राप्त किये हैं, इस टीका के द्वारा जारबुद्धि की श्रेष्ठता ही उनका अभिप्रेत है, कारण (भा० १०।३२।२२) मैं निरवद्य संयोगकारिणी गोपियों के ऋण का परिशोध करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, इत्यादि श्लोक की टीका में आप ने कहा है,—तुम्हारी सुशीलता से ही मैं आनृण्य=ऋणदाय से मुक्त हो जाऊँगा, किन्तु मेरे द्वारा प्रत्युपकार से उक्त ऋण का परिशोध करना सम्भव नहीं होगा ॥४६॥

आशङ्का—(१०।२९।११) श्लोक में श्रीशुकदेव ने कहा है—सद्य प्रक्षीण बन्धना गोपीगण जारबुद्धि के द्वारा भी परमात्मा श्रीकृष्ण के

सम्भवात् तथा च तस्यार्थः "तदानीमेव ताः प्राप्ताः श्रीमन्तं भक्तवत्सलम् । ध्यानतः परमानन्दं कृष्णं गोकुलनायिका" इति वासना-भाष्यधृत-मार्कण्डेयवचनात् तमेव श्रीकृष्णमेव ताः सङ्गता मिलिता । कथं संगतास्तत्राह जारबुद्धापि उपपति-भावेन सह न तु तां परित्यज्येत्यर्थः, कीदृशं त्वं परमात्मानं सर्वांशि परमस्वरूपत्वेन सर्वेषामेवोपास्यभूतं तद्बुद्धचा सह तत्सङ्गमार्थश्च गुणमयं सर्वं गुणप्रचुरं देहं जहुः, अहो जारबुद्धेर्माहात्म्यमिति भावः । ततश्च प्रक्षीण बन्धनं पत्यादिकृतरोधनं यासां ताः, एताश्च साधनवशात् भावमात्र-सिद्धप्रायाः;न तु देह-सिद्धाः देह-सिद्धानां देहत्यागासम्भवात्, अस्य व्याख्यान्तरं पूर्वा सङ्गतिश्च वैष्णवतोषण्यां द्रष्टव्या । एवं स्थिते 'अपि बत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोधुनास्ते', [१०।४७।२१]—

साथ मिलकर गुणमय देह को त्याग दिये । इस श्लोक में 'अपि' शब्द निन्दा का बोधक है, अतः उन्होंने भी जारबुद्धि को उत्कृष्ट नहीं माना है ? **समाधान**—उससे भी उत्कर्ष का स्थापन ही होता है, कारण उसका तात्पर्य इसप्रकार है—उस समय ही अलब्ध-निर्गमा गोपीगण,—परमसुन्दर भक्तवत्सल परमानन्दघन कृष्ण को ध्यान से प्राप्त किए थे । वासना भाष्यधृत मार्कण्डेय वचन से जाना जाता है कि—कृष्ण के साथ वे सब मिली थीं । किस प्रकार से मिलित हुये थे, उसको भी कहते हैं,—जारबुद्धि से अर्थात् उपपति भाव से किन्तु उस जारबुद्धि को छोड़ कर नहीं । वह किस प्रकार हैं ? परमात्मा है, अर्थात् सर्वांशी परमस्वरूप होने के कारण सब के ही उपास्य हैं । जारबुद्धि के साथ उनको प्राप्त करने के लिए गुणमय अर्थात् सर्वगुणप्रचुर देह का त्याग उन्होंने किया । अहो !! जारबुद्धि का माहात्म्य !!! अनन्तर उन सबके बन्धन (पति प्रभृति के द्वारा रोधन), प्रक्षीण (विनष्ट) हुआ । यह सब साधन से भाव-सिद्ध थीं, किन्तु देह सिद्ध नहीं था । जिन के देह भी गोपी भावसे सिद्ध हो जाता है, उनको देहत्याग नहीं करना होता । इस श्लोक की अन्य व्याख्या एवं पूर्व सङ्गति प्रभृति को वैष्णवतोषणी में

इत्यत्रार्य्यस्य श्रीव्रजेन्द्रस्य पत्र इति यौगिकार्थो बोध्यः, न तु पतिरूपरूढ़्यर्थः। ताद्दशशब्दप्रयोगस्तु श्रीराधायाः प्रेमोन्माद-प्रलापत्वात्, न हि प्रकृतिस्थया तया ताभि र्वा कुत्रापि पुराणे सत्कविग्रन्थे वा ताद्दशः शब्दः प्रयुक्तोस्ति। इति—'कृष्णबध्व' (१०।३३।८) इत्यत्र बधूशब्दस्तु प्रकरणवशाद् गोपपत्नीरूपाः तस्य परकीया स्त्रिय एवाभिधत्ते, 'बधूर्जाया स्नुषा स्त्री चे' त्यमरकोषात्। बधूशब्दस्यानियत-पत्नीवाचकत्वेन 'बधू स्तव निर्गलेत्यादौ' स्नुषादावपि तत्प्रयोगाच्च, तदेवं नित्यमेव तासु तस्योपपतित्वं ग्रन्थकृतामभितं श्रीभागवतसम्मतञ्चेति सिद्धं। केचित् तत् परेच्छयाहुः —यः खलु उपपतित्वाद्युत्कर्षो वर्णितः श्रीमद्भिर्ग्रन्थकृद्भिः, स तु परेच्छयैव, न पुनः स्वाभिमत इति तन्न, तेषां प्रार्थनाविरोधात्, तथाह्युत्कलिकावल्लर्य्याम् (४५) 'आलिभिः सममभ्युपेत्य

देखना आवश्यक है। इस प्रकार स्थिर होने पर (भा० १०।४७।२१) आर्यपुत्र क्या सम्प्रति मथुरा में विराज रहें हैं। इस वाक्य के 'आर्यपुत्र' शब्द से आर्य श्रीव्रजराज के पुत्र—इस प्रकार योगिक अर्थ ही करना होगा, किन्तु पतिरूप रूढ़ि अर्थ यहाँपर नहीं होगा। उस प्रकार शब्द प्रयोग श्रीराधा के प्रेमोन्माद प्रलाप से ही हुआ है, प्रकृति राधा एवं गोपीगण के द्वारा किसी पुराण में तथा सत्कवि-ग्रन्थ में उस प्रकार प्रयोग नहीं हुआ है। कृष्ण बधूगण पदके 'बधू' शब्द प्रकरण के अनुसार गोपपत्नीरूपा श्रीकृष्ण की परकीया स्त्री का ही बोध होता है। अमरकोष में 'बधू' शब्द जाया, स्नुषा एवं 'स्त्री' शब्द समार्थक वाचक है। बधू-शब्द सर्वदा ही पत्नी वाचक नहीं है, अतः 'बधूस्तव' इत्यादि में पुत्रबधू का बोधक भी बधू शब्द हुआ है। अतएव गोपीगण के विषय में श्रीकृष्ण का नित्य ही उपपतित्व है, एवं यह ही ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामीपाद का अभिमत एवं श्रीमद्भागवत सम्मत है। कोई कोई कहते हैं कि—श्रीजीवगोस्वामी प्रभृति के द्वारा वर्णित औपपत्य परेच्छाप्रणोदित हैं, इस प्रकार कहना ठीक नहीं है। कारण उससे श्रीरूपगोस्वामी

गान्धर्विकायां मुदा' गोष्ठाधीशकुमार हन्त कुसुमश्रेणीं हरन्त्यां तव। प्रेक्षिष्ये पुरतः प्रविश्य सहसा गूढ़स्मितास्यं बलादाच्छिन्दानमिहोत्तरीयमुरसस्त्वां भानुमत्याः कदेति॥ अत्र हि स्वकीयात्वे तया तु तस्य पुष्पहरणं, तेन च तत्सख्या उत्तरीयाकर्षणं न सम्भवतीति। कार्पण्यपञ्जिकायाञ्च ३५) 'गवेषयन्त्यावन्योन्यं कदा वृन्दावनान्तरे सङ्गमय्य युवां लप्स्ये हारिणं पारितोषिकमिति, अत्रापि परस्परान्वेषणं परकीयात्वे एव सम्भवतीति, एवं बहुत्र द्रष्टव्यम्। एतदपि पर प्रतारणायैव कृतमिति चेत् तर्हि तेषामप्रामाणिकत्वापत्तिरिति। ननु कथं तर्हि ललितमाधवे विवाहो वर्णितस्तैरिति चेत् तर्हि नाटकस्यापि मिश्रितवृत्तयुक्ततया तत्रत्य विवाहादिवर्णनस्या-

---

की प्रार्थना के साथ विरोध होगा। श्रीरूप कृत प्रार्थना में (उत्कलिकावल्लरी में ४५) उक्त है—हे व्रजेन्द्रनन्दन! ललितादि सखीगण से परिवेष्टिता श्रीराधा तुम्हारी पुष्प वाटिका में धीर पदक्षेप से प्रविष्ट होकर अलक्ष्य रूप से एवं खुशी से पुष्प तोड़ते रहने पर तुम सहसा वहाँ घुस कर श्रीमती की सहचरी भानुमती के वक्षःस्थल से उत्तरीय वसन बल पूर्वक ग्रहण करते समय तुम्हारे बाहर कोप, एवं अन्तर में हास्य युक्त मुखपद्म का दर्शन मैं कब करूँगा। यहाँपर श्रीरूपगोस्वामीपाद का मत यदि स्वकीया पर ही होता तब—श्रीराधा के द्वारा पुष्प हरण, एव श्रीकृष्ण के द्वारा श्रीराधा सखी के उत्तरीय वस्त्राकर्षण करना सम्भव नहीं होता। कार्पण्यपञ्जिका में आप ने कहा है—वृन्दावन में तुम दोनों विरह व्याकुल होकर परस्पर की अन्वेषण करते रहने पर मैं कब तुम दोनों के मिलन सम्पन्न करूँगा, एवं उससे तुम दोनों के निकट से मनोहर हार-पदकादि पुरस्कार लाभ करूँगा। यहाँपर परस्पर अन्वेषण परकीया में ही सम्भव होता है, इस प्रकार अनेक दृष्टान्त है। यदि कहो कि—परप्रतारणा के लिए ही इस प्रकार श्लोक की रचना हुई है, तब महानुभाव श्रीरूपगोस्वामी में अप्रामाणिकता दोष आ जाता है। **आशङ्का**—तब क्यों आप ने ललितमाधवनाटक

काल्पनिकत्वात्, नाटके वर्णनीया कथा इति वृत्तमित्युच्यते तद्द्विविधं कल्पितं मिश्रितञ्चेति। अथेदं विचार्य्यते तासां परकीयात्वं मायाकल्पितं वास्तवं वा ग्रन्थकृद्भिरभिप्रेतमित्ति, तत्र वास्तवमेव तैरभिप्रेतमिति ब्रूमः। गोपैस्तासां परिणयस्य वास्तवत्वेन तै स्वीकृतत्वात्, यदुक्तं परोढ़ालक्षणे [उज्ज्वले हरिप्रिया २५] गोपै र्व्यूढ़ा अपि हरेः सदा सम्भोग-लालसाः इति। अतएव 'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गम' [उज्ज्वल, कृष्णवल्लभा १६] इत्यत्र सङ्गममात्रं निषिद्धं, न तु शुश्रूषादिकमपि, प्रत्युत वर्णितमेव तत्र तत्र पत्युः सेवानुविधौ किमुतरामन्तरायां कुरुषे इत्यादौ बहुत्र; श्रीमद्भागवते तु स्पष्टमुक्तं यथा (१०।२६।६) शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदिति। यत्तु 'पतिम्मन्यानां वल्लवानामि'त्यादि गद्यं ललित-

---

में विवाह की वर्णना की है? **समाधान**—नाटक-रचना मिश्रित घटना के समावेश से होती है, सुतरां तत्रत्य विवाहादि की वर्णना काल्पनिक है, नाटक में वर्णनीय कथा को 'इतिवृत्त' कहते हैं, वह कल्पित एवं मिश्रित भेद से दो प्रकार है, विशेष जानकारी के लिए नाटक चन्द्रिका एवं साहित्यदर्पण ग्रन्थ देखना आवश्यक है। यहाँपर विचार्य यह है कि—गोपीयों के परकीयात्व मायिक है, अथवा वास्तविक? इसमें श्रीरूपगोस्वामी जी का मत क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहता हूँ कि—वास्तविक पक्ष ही उनका अभिप्रेत है, कारण गोप के द्वारा गोपीगण के विवाह श्रीरूपगोस्वामी जीने वास्तविक मानकर ही स्वीकार किया है। परोढ़ा लक्षण में—गोपगण के द्वारा गोपीयों के पाणिग्रहण संस्कार होनेसे भी सदाकाल गोपीगण श्रीहरि के साथ ही सम्भोग लालसा रखती थीं। सुतरां कभी भी पति के साथ गोपीयों के सङ्ग लाभ नहीं हुआ है। यहाँपर सङ्गमात्र ही निषिद्ध हुआ है, किन्तु शुश्रूषा निषिद्ध नहीं हुई है। प्रत्युत उसका बहुशः वर्णन भी किए हैं, पति की सेवा विधान में अन्तराय क्यों करते हो? इत्यादि। श्रीमद्भागवत (१०।२६।६) में स्पष्टत ही उक्त है—कोई कोई परिशूश्रूषा में रत थीं। तब जो

माधवीयं (१।४५) वदन्ति, तत्त्वर्वाचीन-कल्पितमेव, न तु ग्रन्थकार-गीतमित्यस्माभि र्न व्याख्यातं। अलमतिविस्तरेण, प्रकृतमनुसरामः अस्मिन् श्लोके निशान्तप्रातःसङ्गवमध्याह्नापराह्णसायाह्न-प्रदोष-रात्रय इति क्रमेणाष्टौ कालाः निर्द्दिष्टाः तत्र प्रातरादिकालमाह स्मृतिः (तिथितत्त्वं) "प्रातःकालो मूहूर्त्तांस्त्रीन् सङ्गवस्तावदेव तु। मध्याह्नोस्त्रिमुहूर्तः स्यादपराह्णस्ततःपरम्। सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादित्येवं।" निशान्त-प्रदोषावपि प्रत्येकं त्रिमूहूर्त्तात्मकौ प्राह्यौ तुल्यन्यायात्। रात्रि-मध्याह्नौ समयदण्डलीला-समावेशार्थं षन्मुहूर्तात्मकौ ग्राह्याविति ।।४७।।

इति दशश्लोकीभाष्ये द्वितीयश्लोकभाष्यम् ।।२।।



अथ **निशान्तलीलां** विस्तारेण सूत्रयन्नाह--

रात्र्यन्ते त्रस्तवृन्देरित-बहुवि-रवैर्बोधितौ कीरसारी-
पद्यै र्हृद्यैरहृद्यैरपि सुखशयनादुत्थितौ तौ सखीभिः।

'पतिम्मन्यानां वल्लवानां' ललित माधव के पद्य में वर्णित है, वह **अर्वाचीन-कल्पित** है, उसकी रचना ग्रन्थकार के द्वारा नहीं हुई है, इसलिए हमने उस की व्याख्या नहीं की है। अधिक विस्तार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत बात को कहता हूँ। इस श्लोक में निशान्त प्रभृति अष्टकाल का निरूपण हुआ है,—उसका परिमाण करते हैं। प्रातःकाल तीन मुहूर्त (छै दण्ड), सङ्गत (पूर्वाह्ण) छै दण्ड, मध्याह्न (१२ दण्ड), उसके बाद अपराह्ण, सायाह्न, निशान्त एवं प्रदोष—यह सब तीन मुहूर्त्त व्यापी हैं, केवल रात्रि एवं मध्याह्न समय छै मुहूर्त्त (१२ दण्ड) के होते हैं ।।४७।।

इति द्वितीय श्लोक भाष्य ।।२।।



सम्प्रति **निशान्त-लीला** का वर्णन विस्तारित भाव से करते हैं।—

दिन निकलने से श्रीराधाकृष्ण की निगूढ़ लीला लोक जान

दृष्टौ हृष्टौ तदात्वोदितरतिललितौ कक्खटी-गीः सशङ्कौ
राधाकृष्णौ सतृष्णावपि निजनिजधाम्न्याप्ततल्पौ स्मरामि ॥३

राध्यन्ते तौ प्रक्रान्तौ प्रसिद्धौ वा राधाकृष्णौ स्मरामीत्यन्वयः। किम्भूतौ तौ—'त्रस्ता भीता या वृन्दादयो भृत्याः सन्ति गोविन्द-लालसा' इत्यादि स्कान्दादिवचनात्तन्नाम्नी वनदेवी तया ईरिता प्रेरिता ये वयः पक्षिणस्तेषां रवैर्बोधितौ तथा कीरसारीपद्यैः सुखशयनादुत्थितौ, कीदृशैः हृद्यैरपि मनःक्षोभकरैः शङ्काभयादि-जनकत्वात्, अन्यथा तादृशरसविच्छेदात्; पुनः कीदृशौ सखीभिर्दृष्टौ कुञ्जे छिद्रेणेति शेषः। तथा हृष्टौ प्रसन्नचित्तौ तथा तदात्वं तत्काले परमकामोद्दीपनात् परस्परसुरतान्तशोभादर्शनेन उदिता पुनरुद्गता या रतिः प्रीतिः सुरतेच्छेत्यर्थः तया ललितौ सुन्दरौ तथा कक्खटी तन्नाम्नी वृद्धवानरी तस्या 'जटिला समुपागतेति'

जायेंगे,—इस आशङ्का से भीता वृन्दादेवी श्रीराधाकृष्ण की निद्रा भङ्ग हेतु निशान्त में शुकसारिकादि पक्षी समूह को भेजी थी, उनके कलरव से एवं प्रिय, अप्रिय पद्य पाठ के शब्द से प्रबोधित—तत्-कालोचित रति भर से अतिरमणीय, दूर से सखीजनों के द्वारा दृष्ट, अथवा परस्पर दृष्ट एवं हृष्ट, उस राधाकृष्ण विलासातिरेक से सतृष्ण होकर भी कक्खटी नामक वन्दरी के चित्कार शुनकर शङ्कित चित्त होकर निज निज भवन में जाकर शय्या में सो गए।

मूल की व्याख्या—निशान्तकाल में उन प्रस्तावित अथवा प्रसिद्ध राधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ। आप किस प्रकार हैं? भीता वनदेवी के द्वारा प्रेरित पक्षी सकल के रव से बोधित एवं शुकशारी पद्य से सुख शयन से उत्थित हैं,—वह पद्य किस प्रकार है? हृद्य से शङ्का भयादि जनक हेतु मनःक्षोभकारी है। श्रीराधाकृष्ण किस प्रकार हैं? सखीगण के द्वारा कुञ्जमध्य में छिद्र से दृष्ट, हृष्ट, प्रसन्नचित्त, उस समय परम कामोद्दीपन हेतु परस्पर के विलासान्त की शोभा को देखकर पुनर्बार उद्गत जो

या गीर्वाक्यं तया सशङ्कौ । जटिला लोकप्रसिद्धनाम्नी श्रीराधिकायाः श्वश्रूः, तथा सतृष्णावपि परस्परस्मिन् साभिलाषावपि निज निज धाम्नि स्व स्व-गृहे प्राप्ततल्पौ ॥४८॥

क्रमेणोदाहरणानि-[गोविन्दलीलामृते] प्रथमसर्गे निशावसानमिति (११), आसन् यदर्थमिति (१२), द्राक्षासु सार्य्यः (१३), अथ पक्षिणां (२१), कृष्णानुराग (२७), जय जय गोकुल (२८), कलवाक् सूक्ष्मधी (३४), व्रजन्ति सर्व्वतो (३५), चन्द्रवर्त्तकदिशं (७६), श्रीकृष्णलीला-रचना (४१), श्रान्तोऽरण्य (४२), अथ कीरगिरा (४५), पूर्वं प्रबुद्धा (४६), उत्थायेशः (५१), वामेन चाधः (५८), कान्ताधरस्पर्श (५६), अथास्या वयस्याः (६०), अभिलक्ष्य (६१), इत्थं मिथः (७१), अथ वृन्देङ्गितनाभिज्ञा (१०७), रक्ताम्बरा (१०८), भ्रश्यद्दुकूल (११०), चकितचकितं (११५) ।

इति दशश्लोकीभाष्ये तृतीयश्लोकभाष्यम् ॥३॥



रति, सुरतेच्छा, उससे ललित (सुन्दर) एवं कक्खटी नाम्नी बूढ़ी वाँदरी के 'जटिला आई' इत्यादि वाक्य को सुनकर सशङ्क, अथच परस्पर विलास विशेष के लिए सतृष्ण होने पर भी, निज निज गृह में जाकर सो गए हैं। सम्प्रति श्रीगोविन्दलीलामृत का उदाहरण देते हैं। मूल में श्लोक के प्रतीक एवं संख्या है, यहाँपर श्लोक संख्या ही दी गई है। अनुवाद को जानना हो तो मूल ग्रन्थ से ही आस्वादन करें ॥४८॥

प्रथम सर्ग में—११, १२, १३, २१, २७, २८, ३४, ३५, ७६, ४१, ४२, ४५, ४६, ५१, ५६, ६०, ६१, ७१, १०७, १०८, ११०, ११५

इति तृतीय श्लोक-भाष्य ॥३॥



अथ प्रातःकालीनलीलामाह—

राधां स्नात-विभूषितां व्रजपयाहूतां सखीभिः प्रगे
तद्गेहे विहितान्नपाकरचनां कृष्णावशेषाशनाम् ।
कृष्णं बुद्धमवाप्तधेनुसदनं निर्व्यूढ़-गोदोहनं
सुस्नातं कृतभोजनं सहचरैस्ताञ्चाथ तञ्चाश्रये ।।४।।

प्रगे प्रातःकाले तां राधां तं च कृष्णं आश्रये इत्यन्वयः। चकार-द्वयं द्वयोः स्मरणतुल्यतावगमाय, तच्च स्वस्य स्नेहाभिमानित्वद्योतनाय; श्रीकृष्णस्य पश्चान्निर्देशः श्रीराधाप्राणबन्धोरित्यत्र प्राणपदोक्ताभि-प्रायेण। अथेति कार्त्स्न्ये सर्वात्मना जानामीत्यर्थः। कथम्भूतां तां—स्नातविभूषितां आदौ स्नाता पश्चाद् विभूषिता तां 'पूर्वकालैके'-त्यादिना [पाणिनि २।१।४९] समासः व्रजं पातीति व्रजपा यशोदा

अनन्तर **प्रातर्लीला** का वर्णन करते हैं—

जो प्रातःकाल में स्नान एवं अङ्ग में अलङ्कारादि धारण कर व्रजेश्वरी के आदेश से उनके घर जाकर यथाविधि अन्नादि निर्म्माण करती हैं, एवं श्रीकृष्ण के भोजनावशेष वस्तु भोजन करती हैं, मैं उन श्रीराधा की शरण लेता हूँ। और जो जगकर गोष्ठ को जाते हैं, यथा नियम से गो-दोहन, स्नान एवं सहचरगण के साथ भोजन करते हैं, उन कृष्ण की मैं शरण लेता हूँ ।।

अन्वय व्याख्या—प्रातःकाल में उन श्रीराधा एवं कृष्ण की शरण लेता हूँ। मूल श्लोक में दो 'च'कार का तात्पर्य यह है कि—दोनों का ही स्मरण तुल्य है, उनसे कविका स्नेहाभिमानत्व ही प्रकट हुआ है। श्लोक में श्रीकृष्ण का निर्देश पीछे होनेसे प्रथम श्लोकोक्त श्रीराधाप्राणबन्धु पद का 'प्राण' पद ही उक्त अभिप्राय को प्रकट करता है। अर्थात् श्रीराधा के आनुगत्य से ही श्रीराधाप्राण-बन्धु का भजन विहित है। 'अथ' शब्द 'समग्रभाव' को प्रकाश करता है। श्रीराधा किस प्रकार हैं?—स्नातविभूषिता, प्रथमतः स्नाता, पश्चात् विभूषिता है। व्रज का पालन जो करती है,

तया स्वगृहे पाकार्थमाहूता। तस्या व्रजपात्वं तु श्रीकृष्णमातृत्वात्, दैत्यबधादिना पुत्रकृतं व्रजपालनं सैव करोति वेत्युपचारेण व्रजपयेत्युक्तं। अन्यथा व्रजपस्य स्त्री व्रजपीत्येव स्यात्। 'व्रजमहिष्याकारितामालभि'रिति पाठः। तदा प्रातरिति मूलसूत्रादनुवर्त्तनीयम्। एवमग्रेऽपि यत्र यत्र सङ्ख्यादिपदं नास्ति तत्र तत्रैव तत्तदनुवर्त्तनीयम्। यद्वा 'ताञ्चाथ तञ्चाश्रये' इत्यत्र 'तां तं च प्रातर्भजे' इति पाठो बोध्यः। तथा सखीभिः सह तस्या व्रजपाया गृहे विहितं कृतं पाकरचनं यया सा तथा ताम्, कृष्णस्यावशेषं भुक्तावशिष्टं अश्नातीति कृष्णावशेषाशना तां। तं कथम्भूतं बुद्धं निद्रातः प्रबुद्धं, अवाप्तं धेनूनां सदनं गोष्ठं येन स तथा तम्। सु शोभनं यथा स्यात्तथा स्नातं सहचरैः सह प्रीत्या कृतं भोजनं येन स तथा तं ॥४९॥

अस्य श्लोकस्य तृतीयचरणमारभ्य प्रथमचतुर्थद्वितीयचरणक्रमेणोदाहरणानि यथा [द्वितीयसर्गे] पर्य्यङ्के न्यस्य सव्यमिति (१३), स मुष्टिपाणिद्वयमुन्नमय्य (२४), विश्वस्तमस्याञ्जनपुञ्जमञ्जु (२६), पूरस्थजाम्बुनद-झर्झरीतः (२७), सव्येन पाणिं मधुमङ्गलस्य (२८), एके करावस्य परे (२९), अथ तैः सहितः स तया प्रहितः (३१), वयस्य पश्याम्बर (३२), इत्थं गिरस्ता मधुमङ्गलस्य (३६), गोपालोऽपि स्वगोशालां (३७), न्यस्ताङ्गः प्रपदोपरि (४१), तदैवावसराभिज्ञा (५२), उत्थायाथ वराङ्गी (५९), ललिता-प्रमुखा

उनका नाम व्रजपा (यशोदा), उनके द्वारा निज गृह में पाककार्य के लिए यशोदा उनको बुलाती है। यशोदा व्रजपा कैसे हुई? श्रीकृष्ण माता होनेसे अथवा पुत्रकृत दैत्य बधादि के द्वारा व्रज का पालन माता करती हैं—इस प्रकार व्रज पालकत्व श्रीयशोदा में गौण भावसे वर्णित हुआ है ॥४९॥

श्लोक के तृतीय, प्रथम, चतुर्थ एवं द्वितीय चरण के क्रमिक उदाहरण इस प्रकार है,—द्वितीय सर्ग में—१३, २४, २६, २७, २८,

स्तावत् सख्यष्टाः (५७), गन्धचूर्ण-परिपूर्ण (६२), हैमीं जिह्वाशोधनीं सा कराभ्यां (६३), पाणी (प्रोञ्छ्) श्रीमुखेन्दुश्च (६४), तत्र काञ्चनमये (६५), अभ्यज्य नारायणतैलपूरैः (६७), मन्दपक्वपरिवासित (६९), अङ्गानि तस्या मृदुचीनचेलैः (७०), अथागतां भूषणवेदिकायां (७१), सा कृष्णनेत्रकुतुकोचितरूपवेशां (१०५)। [तृतीय-सर्ग]—सुतेषद्भुचिताव्यग्रा (३।१२), औपनन्देः सुभद्रस्य (१३), अमृतमधुरमास्तां (१४), ततः सासाद्य जटिलां (१८), बधूमथाहूय जगाद (२४), कृताग्रहोच्चैः पुनरार्य्ययासौ (२६), कृष्णस्य प्रातराशाय (२७), तत्रागतां चरणयोः प्रणतां (३७), प्रत्येकमालिङ्ग्य (३८), उपलावणिकं त्वेकाः (४०), सरसरसवती (४१), प्रक्षाल्य पाणिवरण (६२), तत्तत्कर्मणि लग्नासु (६३), अथाह पुत्रानयनोत्सुका (८३), प्रहित्य तं साथ (८४), तामाह सम्मार्जितवेदिकान्तरे (८५), कृतानि क्रियमाणानि (१०९), ततो गता दुग्धगृहं (११३)। [चतुर्थ-सर्ग] अथ व्रजेन्द्रेण (१), एह्येहि वत्स (२), तद् याता स्वगृहात् पुत्राः (५), गतेषु तेषु हृष्टेषु (६), तमागतं त्वाप्लव-वेदिकान्तरं (८), तत्रोपविष्टस्य सुखं (९), अभ्यज्य नारायणतैलपूरैः (१०), मन्दपक्वपरिवासित (१४), तच्छ्रीमदङ्गं (१५), विधाय गोरचनयास्य भाले (१७), तस्य श्रीमद्भुजयुगलयोः (१८), स्नातानुलिप्ता (२०), तोयार्द्रकञ्चुक (२१), श्रीदामसुबलौ (२२), तेषूपविष्टेष्वथ पानकानि (२३), स्वस्वसंस्कृतमिष्टान्नं (२४), तानि माता बलादिभ्यो (२६), स्यन्दानिकोपरि (३९), आनीयानीय गान्धर्वा (४०), अन्नान्यथो तानि चतुर्विधानि (४४), अथ बलजननीं तां (४८), साभिभुक्तं कियत्तेन (४९), इदमिदमतिमिष्टं वत्स (५७), भक्ष्यं भोज्यं बहुतरमिष्टं (५९), सर्वे सुवासितमृदा (६०), रसाल-

२९, ३१, ३२, ३६, ३७, ४१, ५२, ५६, ५७, ६२—६५, ६७, ६९—७१, १०५। तृतीय सर्ग में—१२—१४, १८, २४, २६, २७, ३७, ३८, ४०, ४१, ६२, ६३, ८३—८५, १०९, ११३। चतुर्थ सर्ग में—१ २, ५, ६, ८—१०, १४, १५, १७, १८, २०—२४,

करसंस्कृतो (६२), निष्क्रम्य धौताङ्घ्रिकरां (६४), आनन्दज-स्वेद-जलैर्व्रजेशया (६५), तया निदिष्टा (६६), तैर्भूषणैरथ धनिष्ठिकयोपनीतैः (७१)।

इति दशश्लोकीभाष्ये चतुर्थश्लोकभाष्यम् ।।४।।



अथ पूर्वाह्णलीलामाह—

पूर्वाह्णे धेनुमित्रैर्विपिनमनुसृतं गोष्ठलोकानुयातं
कृष्णं राधाप्तिलोलं तदभिसृतिकृते प्राप्ततत्कुण्डतीरम्।
राधाञ्चालोक्य कृष्णं कृतगृहगमनार्य्ययार्कार्चनायै
दिष्टां कृष्णप्रवृत्त्यै प्रहितनिजसखीवर्त्मनेत्रां स्मरामि ।।५

'पूर्वाह्णे धेनुमित्रै'रित्यादिस्थाने 'कृष्णं गोभिः स्वमित्रै'रिति पाठान्तरम्। कृष्णं राधाञ्च स्मरामीत्यन्वयः। सङ्गवे इति शेषः।

२६, ३६, ४०, ४४, ४८, ४६, ५७, ५६, ६०, ६२, ६४—६६, ७१

इति चतुर्थश्लोकभाष्य ।।४।।

— — o✲✲o — —

अनन्तर पूर्वाह्णलीला कहते हैं—

जो पूर्वाह्णकाल में धेनु एवं मित्रगण के साथ वन-गमन करने से, नन्द यशोदादि व्रजवासिगण उनके अनुगमन करते हैं। जो राधा के साथ मिलित होने के लिए सतृष्ण होते हैं, एवं अभिसार हेतु श्रीराधाकुण्ड के तीर में उपस्थित होते हैं,—उन श्रीकृष्ण का मैं स्मरण करता हूँ। और जो कृष्णदर्शनानन्तर घर को चली जाती है, आर्या जटिला के आदेश से सूर्य अर्च्चना के च्छल से कृष्णवार्त्ता प्राप्ति की आशा से प्रेषित सखी के पथके और निरीक्षण करके रहती हैं,—उन श्रीराधा का मैं स्मरण करता हूँ ।।

सान्वय व्याख्या—कृष्ण एवं राधा का स्मरण करता हूँ। कृष्ण किस प्रकार है? धेनुगण एवं वयस्यगण के साथ वनगमनकारी हैं,

कीदृशं कृष्णं, गोभि र्मित्रैश्च सह विपिनमनुसृतं वनं प्रति चलितमित्यर्थः। पूर्ववच्चार्थो बोध्यः। गोष्ठलोकैर्व्रजवासिजनैरनुयातोऽनुगतो यस्तं, तैः कृतानुगतिकमित्यर्थः। श्रीराधायाः स्फूर्त्या लोलं चञ्चलं सतृष्णं वा, 'लोलश्चल-सतृष्णयोरित्यमरः।' तस्याः श्रीराधायाः अभिसृतिकृते अभिसारणार्थमित्यर्थः। प्राप्तं तस्याः श्रीराधायाः कुण्डस्य तीरं येन तथा तं। समासे गुणीभूतस्यापि श्रीराधाशब्दस्य तच्छब्देन परामर्शो, नित्यसापेक्षत्वात्; येन विना यस्यान्वयबोधो न भवेत्, तत्तत्र नित्यसापेक्षम्। तां कथम्भूतां—कृष्णमालोक्य कृतगृहगमनां गोचारणाय निर्गतं कृष्णं पथि समालोक्य कृतं स्वकीयगृहाय गमनं यया, गत्यर्थकर्म्मणीत्यादि [पाणिनि २।३।१२] चतुर्थी, 'चतुर्थी तदर्थे' [६।२।४३] इति योगविभागात् समासः। आर्य्यया श्वश्र्वा अर्कार्चनायै सूर्य्यपूजनार्थं दिष्टामादिष्टां आज्ञप्तामित्यर्थः। कृष्णस्य प्रवृत्त्यै वृत्तान्ताय समाचारज्ञानार्थमित्यर्थः प्रहिता प्रेषिता या निजसखी तुलसी नाम्नी तस्या वर्त्मनि नेत्रे यस्याः सा तथा तां। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यादित्यमरः ॥५०॥

व्रजवासिगण के द्वारा अनुगत, श्रीराधा की स्फूर्त्ति से लोल (चञ्चल, सतृष्ण) एवं अभिसार के उद्देश्य से श्रीराधाकुण्ड तीर में पहुँच गए हैं। 'प्राप्ततत्कुण्डतीरम्' उनके कुण्डतीर में गतवान्। इस पद में श्रीराधा शब्द समास में गौण होने पर भी उसके साथ तत्-शब्द के साथ सम्बन्ध है, कारण वह नित्य सापेक्ष है। नित्य सापेक्ष कहते—किसी शब्द के साथ अन्वय करने के लिए जिस की अपेक्षा स्वाभाविक है, जिस को छोड़कर वह कार्य सम्पन्न होता ही नहीं, उसको उस शब्द के लिए नित्य सापेक्ष कहा जाता है। श्रीराधा किस प्रकार हैं? गोचारण के लिए निर्गत कृष्ण को पथ में देखकर निज गृह में गमनकारिणी आर्या,—श्वश्रू (सास) जटिला द्वारा सूर्यपूजा हेतु आदिष्टा। कृष्ण का समाचार जानने के लिए प्रेरित तुलसी नामिका निज सखी के पथ के और निहित नयना हैं ॥५०॥

क्रमेणोदाहरणानि [चतुर्थ-सर्गे]—तावत् स्वसेवाकृतिलब्धवर्णाः (४।७३), वंशीविषाणदलयष्टिधरैर्वयस्यैः (७७)। [पञ्चम-सर्गे]—अनुव्रजन् स्वोर्द्धमुखं व्रजेन्दुः (५।१०), अन्वयत्पितरौ वीक्ष्य (१९), अङ्के सुतस्याथ करेण माता (३४), क्रियमाणाग्रहौ स्वस्य (२७), गोपालनं स्वधर्मो नः (२८), धर्मादायुर्यशोवृद्धिः (२९), आज्ञा मातः पितरिति (३५), भू र्द्यौ भव्या भवतु (३६), यथा पितृभ्यां स तथा (३७, व्रजाङ्गनानां तृषिताक्षिचातकान् (३८), ययाचे राधिकामाज्ञां (४१), व्रजत्यागारण्ययानोत्पन्नाभ्यां (५२), अभ्यासतोऽथ (५६), स्वां स्वां सख्योऽपि (५७), कुन्दवल्लचथ तां राधां (५८)। [षष्ठ-सर्गे]—प्रविष्टोऽथ वनं पश्चात् (६।१), नृत्यन्ति, गायन्ति, हसन्ति गोपाः (४), स्थितिं स्थिरां मातृपुरो बकारेः (५), ततः स्वविच्छेद-दवाग्निमूर्च्छितां (१२), प्रोद्यद् वेपथुः (१५), वृन्दावनस्थिरचरान् (२७), यतो यतः पतति विलोचनं (२५), स्वकल्पितैर्लोकचय-प्रसिद्धैः (३०), तान् वीक्ष्य कृष्णः (३१), साप्याह तं तौ (३४), इतस्ततः सञ्चरती र्गवालीः (३६), पाययित्वा जलं गास्ताः (३७), उपपुलिनमथासौ (३८), ततः सखीनाह हरिः (३९)। [सप्तम-सर्गे]—कियद्दूरं ततो गत्वा (७।१), परितो मणिसोपानावलिभिः (२), तीर्थोपरि स्फुरद्रत्नमण्डपैः (३), प्रतिमण्डपपार्श्वस्थ (४), याम्ये चम्पकयोः पूर्वे (५), पूर्वाग्नेयदिशोर्मध्ये (६), चतुष्कोणेषु वासन्ती (१०), निचितपृथुतलानां (९), तद्बहिः पक्विमापवक (११), तद्बहिर्बाह्योपवनाश्लिष्ट (१२), नानापुष्पफलोच्चार्यि १३), पुष्पाटवी-फलाराम (१४), नवकमलदलाली (१७), कह्लार-रक्तोत्पलपुण्डरीक (१८), हंस-सारस-दात्यूह (१९), स्वसदृक्तीरनीरेण (२६), अथ वृन्दागतमित्यादि (१२०), वृन्दातत्तन्निजनिपुणता (१२१)।

क्रम से उदाहरण चतुर्थ सर्ग में—७३, ७७। पञ्चम सर्ग में—१०, १९, ३४, २७—२९, ३५—३८, ४१, ५२, ५६—५८। षष्ठ सर्ग में—१, ४, ५, १२, १५, २७, २५, ३०, ३१, ३४, ३६–३९। सप्तम सर्ग में—१-६, ९-१४, १७-१९, २६, १२०, १२१। पुनर्बार

[पञ्चम-सर्गे]—आगत्य खट्टोपरि-सन्निविष्टां (५।७४), कृष्णाङ्ग-कामालयवैजयन्तिकां (७६), एलेन्दुजातीफल (७७), मालामेतां तुलसि हरये (७८), श्रीराधिकाप्यथ (७९)। [षष्ठ-सर्गे]—अथागता सा तुलसी (६।५०), ततः सा तुलसी न्यस्य (५२), कण्ठे स्रजं तामथ (५४), आगत्य कुञ्जे परिहासलीलां (५५), सख्यास्ते कुशलं सखीश (५६), प्रियावलोकनोत्कण्ठं (६२), सा ते कान्ता (६३), तच्छ्रुत्वोच्छ्वसित-स्वान्तः (६४), लीला निकुञ्जकलनाय तदाथ (६५), राधे त्वं ताम्रकुण्डीमरण [५।६९], ताः प्रोन्मत्ता अपि जटिलायाः [५।७३]।

इति दशश्लोकीभाष्ये पञ्चमश्लोकभाष्यम् ।।५।।



अथ मध्याह्नलीलामाह—

'नानायत्नाप्त'सङ्गोदित-विविधविकारादिभूषा-प्रमुग्धौ
वाम्योत्कण्ठयातिलोलौ स्मरमखललिताद्यालिनर्माप्तशातौ।
दोलारण्याम्बुवंशीहृतिरतिमधुपानार्कपूजादिलीलौ
राधाकृष्णौ सतृष्णौ परिजन-घटया सेव्यमानौ स्मरामि ।।६

पञ्चम सर्ग में—७४, ७६—७९। षष्ठ सर्ग में—५०, ५२, ५४-५६, ६२—६५। पञ्चम सर्ग में—६९, ७३।

इति पञ्चमश्लोकभाष्य समाप्त ।।५।।

मध्याह्नलीला वर्णन करते हैं—

मध्याह्नकाल में जो परस्पर सङ्गजनित अष्टसात्त्विकादि विविध-भाव-भूषण से अति मनोहर,—वाम्य एवं उत्कण्ठाभर से अतिलोल (चञ्चल, सतृष्ण) कन्दर्प यज्ञ में ललितादि सखीगण के परिहास वाक्य से प्राप्तसुख, हिन्दोलन, वनविहार, जलकेलि, वंशीहरण, रतिक्रीड़ा, मधुपान, सूर्यपूजादि विविध लीलाविनोद से तत्पर एवं परिजनगण के द्वारा सेव्यमान हो रहें हैं,—मैं उन श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ।

राधाकृष्णौ स्मरामीत्यन्वयः। मध्याह्न इति शेषः। किम्भूतौ नाना अनेके ये यत्नोद्यमा स्तैराप्तः प्राप्तो यः सङ्गः सङ्गमो मिलनं तेन उदिता उद्गता ये विविधा अनेकप्रकारा विकाराः सात्त्विकभावादय स्ते आदयो येषामुद्भास्वरान्यपर्य्यायानुभावानां ते एव भूषणानि ताभिः प्रमुग्धौ प्रकर्षेण सुन्दरौ 'मुग्धः सुन्दरमूढ़योरित्यमरः। वाम्यञ्च उत्कण्ठा च वाम्योत्कण्ठे ताभ्यां लोलौ चञ्चलौ। तत्र तस्या वाम्यं तस्य तु तत्स्पर्शाद्युत्कण्ठेति बोध्यं। स्मरमखे कन्दर्पयज्ञे ललितादीनामालीनां नर्मभिरात्तं शातं सुखं याभ्यां तौ तथा तौ। 'शर्म-शातसुखानि चेत्यमरः।' दोला च आरण्यश्च अरण्ये भवमारण्यं वनविहार इत्यर्थः, आ अम्वु इतिच्छेदः, आम्वु च अम्ब्वभिव्याप्य जलविहार इत्यर्थः, वंशीहृतिश्च रतिः रसोत्सवश्च मधुपानञ्च अर्कपूजा च ता स्तथा आदयो यासां वसन्तोत्सव-द्यूतक्रीड़ादीनां ता स्तथा ता लीला ययो स्तौ तथा तौ सुतृप्तावित्यनेन भोजन-लीला सूचिता। तदनन्तरभाविनीशयनलीलामा—परिजनाः परिकराः सखीजना इत्यर्थः तेषां घटया समूहेन सेव्यमानौ सेविताविति। अत्र क्रमो न विवक्षितः, वह्वीनां लीलानामेकस्मिन्नेव श्लोके समावेशात् ॥५१॥

अतो मूलग्रन्थ-क्रमेणैवोदाहरणानि ज्ञातव्यानि यथा [अष्टम-सर्गे]

अन्वय व्याख्या—मैं श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ। वे दोनों किस प्रकार हैं? अनेक प्रयत्न के बाद सुखसङ्ग प्राप्त, उसमें अनेक प्रकार सात्त्विकभावादि एवं उद्भास्वरादि अनुभावरूप में उद्गत हुए हैं। उक्त भावभूषणावलि द्वारा परमशोभिता, श्रीराधा का वाम्य एवं श्रीकृष्ण के स्पर्शादि से उत्कण्ठा वशतः अतिचञ्चल, काम यज्ञ में ललितादि सखीगण के परिहास रस से लब्धानन्द, —दोला, वनविहार, वंशीचोरि, रसोत्सव, मधुपान, एवं सूर्यपूजा, वसन्तोत्सव, द्यूतक्रीड़ादि इत्यादि लीलाविनोदी, सुतृप्त, वन्यभोजन से महातृप्त, एवं शयनलीला में सखीगण के द्वारा सेवित हैं ॥५१॥

अथागता सा तुलसी (९), श्रवसोरवतंसकद्वयीं (१०), तत्स्पर्शतः फुल्लसरोजनेत्रा (११), ततस्तदैवागतकुन्दवल्याः (३९), व्रजाद् विनिष्क्रम्य ददर्श सा (४२), कृष्णोऽप्याराद् वकुलः (१०६), मिथ स्तत्तद्गुणानन्त्या (१०८), किं कान्तेः कुलदेवता (१०९), अयं किं कन्दर्पः (११२), इत्थं मिथो दर्शनतो विशुद्ध (११५)। [नवमसर्गे]-- पुरः कृष्णालोकात् स्थगित (११), ह्रिया भिया वामतया (१७), तत्स्पर्शभोत्येव विवृत्य कन्धरां (५८), कृष्णोऽथ कान्तातनुचित्रनर्त्तको (५९), कान्ता विभुग्नीकृतचिल्लिकार्मुका (६०), लोलारविन्द हृति-जातशातं (६१), तत्स्पर्शसंफुल्लतनोर्नतभ्रुवः (६२), अथालिवर्ग-स्मितलोलनेत्रा (६३), कृष्णः कुन्दलतामाह (६९), कुन्दवल्याह तं कृष्णः ! (६८), अस्याः पुरः सव्यकुचे गणेश्वर (७१), अथार्च्चनायां विहितोद्यमोऽसौ (७५), सख्यः स्मरमखारम्भे (७६), दृशा तं दर्शयन्त्याली (९३), पश्यैतास्ते कृतार्चायां (९४), विशाखा शाङ्करी मूर्त्ति (९५), चित्रा नैशाचरी (९६), श्रीरूपमञ्जरी सेयं (९७), सद्रा स्वार्थे तद्धिताढ्या (९८), तदागतिसशङ्कास्ताः (१००), यां यां प्रतीयात्र स चञ्चलाक्षीं (१०१), सकाकुविनयात् कापि (१०२)। [दशम-सर्गे]—ततः स्वस्माच्छङ्कमानां (५), रुष्टेव तुष्टा ललिता (२३), मयाप्यस्यै दत्तमङ्ग (२६), ललितायाः पुरो राधां (२८), इत्यालपन्त्यां त्वरितं (२९), कान्ताङ्गसङ्गजसुखेन (३०), निर्गत्य तस्यां स्वपटाञ्चलेन (३१), हे कृष्ण ! दोर्बिम्बविधुन्तुद (३२), अस्या द्वैता विशाखा (३३), अन्या वा कति मे गण्या (३४), भोगः क्रमेण तारासु (३७), इत्यालपन् श्रीहरिः (३८), धृष्टापगच्छ हे राहो ! (३९), तेनालक्षितमागत्य (४०), अलक्षितं साप्यमुना गृहीता (५१), स चिरात् स्वकरादपच्युतां (५२), सापि तं चलदृग्भङ्ग्या (५३),

---

यहाँपर मूल ग्रन्थ के अनुसार श्लोकों की संख्या दी गई है। इसमें क्रमबद्धता नहीं है।

अष्टम सर्ग में—९—११, ३९, ४२, १०६, १०८, १०९, ११२, ११५। नवम सर्ग में—११, १७, ५८—६३, ६८, ६९, ७१, ७५, ७६, ९३—९८, १००—१०२। दशम सर्ग में—५, २३, २६,

वध्नामि बाहुपाशै स्त्वां (५६), हरि स्तामाह चौरि ! त्वं (५८), 'तयोर्मध्यं समासाद्य संक्रुद्धा ललिताब्रवीत्। सावज्ञं सोपहासञ्च कृष्णं वीक्ष्य मुदान्विता ॥' हस्तमात्रायता शुष्का (७७)। [द्वादश-सर्गे]—नैवास्माभिः क्वापि दृष्टास्ति वंशो (२५), 'अथ राधा-कराद् गूढ़मादाय मुरलीं शनैः। विन्यस्य वृन्दिकाहस्ते निश्चिन्ता ललिता स्थिताः'। वृन्दाह कक्खटिकया वंशी (३७), अथ कुन्दलता वंशी (३८), मनो वंशान् कुर्वन् (३९), ततो वृन्दाटवीं वृन्दा (४३) इयं वृन्दाटव्यातत (४९), ऊर्द्ध्वप्रसर्पत्सुमनोरजःपटं (५०), नानावर्णैश्च पतितैः (५१)। वसन्तकान्तमालोक्य वनभागं ततो हरिः। स्वालोकनोद्गतां तस्य शोभामाह प्रियां प्रति ॥ कुन्दे मरन्दाशन-तुन्दिलास्ते (७०), मौनव्रतं त्यक्तुमिवान्यपुष्टाः (७१), वासन्ती स्वर्णयूथी (७२)। नाम्ना निदाघमञ्जुञ्च वनभागमथ पुरः। निजेशौ दर्शयन्नाह प्रहसन्मधुमङ्गल ॥ वस्त्राणि सत्पाटलिपुष्पवृन्दैः (८२), सुपक्विमैः पीलुकरीर-धात्री (८३) निशम्य वाचं मधुमङ्गलस्य (८८), करारविन्देन परागपांशुलान् (८९), राधाकृष्णौ प्राह (९२), अस्मिन् भृङ्गालिललिता (९४), अभ्रमभ्रावृतं चास्मिन् (९५)। [त्रयोदश-सर्गे]—अथावदत् कुन्दलता (६), परिणतवरगुञ्जा (४), नान्दीमुखी तदनु (४५), हिमऋतुलक्ष्मी (४८), ऋताविहाग्नेः प्रबलोष्णभावा (५१), पथालोकयन्तौ (५५), प्रविशदखिलजन्तूत्कम्प (५६), इत्थं दीव्यन्नविकलकला (११४)। [चतुर्द्दश-सर्गे]—अथाह वृन्दा व्रजमङ्गलाकरा (२७), आरुह्य तां श्रीरमणीचयो भवं (३१), क्लिन्नातिसूक्ष्मवसनान्तरुदीर्णतत्तत् (३३), ताम्बूलचर्वित (३४), वासोञ्चलीं विविधगन्ध (३५), नानाप्रकारपटवासचयान् (३६), अंसालम्बितपौष्प (३७), "क्रीड़न्नित्थं ततो गत्वा हिन्दोलाम्बुज-वेदिकाम्। स्वयमारुह्य हिन्दोलं कान्तामारोहयच्च सः ॥"

२८—३४, ७३—४०, ५१—५३, ५६, ५८, ७७। द्वादश सर्ग में—२५, ३७—३९, ४३, ४९—५१, ७०—७२, ८२, ८३, ८८, ८९, ९२, ९४, ९५। त्रयोदश सर्ग में—६, ४, ४५, ४८, ५१, ५५,

हिन्दोलमध्यं प्रियया (५३), हिन्दोलिकायां सहसालिवृन्दैः (५४), दोलायमतिलोलायाम् (५६), ताम्बूलवीटी र्ललिता विशाखया (५८), सार्द्धं सुदेव्या किल रङ्गदेवी (५९), ताभिः सेवितयो स्तैस्तैः (६०), तत्राश्चर्य्यमभूदेकं (६१), पुनरान्दोलनात्ताभिर्वृन्दा (६२), तासां दलाल्यां परितः (६३), अथावरूढ़ासु विशाखिकेङ्गितैः (७४), व्याकुलां राधिकां प्रेक्ष्य (७५), अथ ताभिः समं कृष्णो (७७), गतश्रमेऽस्मिन् सगणे सखीभिः (८०), आवृत्य वक्त्रं वसनाञ्चलेन सा (८६), प्रियाटवीवृक्षलतोद्भवं प्रियं (८७), दयितागुणमेदुरेण (८८), तद्वक्त्रशेषामृतमिश्रितासवैः (८९), सख्यस्ताः केवलं स्वस्य (९१), तयोर्मदनोत्पन्न-निगूढ़लीला (१०८), कान्तापि घूर्णा-परिपूरिताक्षी (१०९), गन्धोत्तमाः परिमलाधिक (११०)। [पञ्चदश-सर्ग]—कङ्केलिपल्लवकृतल्लजकर्णपूरः (१), राधा-सुरधुनीं प्राप्ते (२), विषमेषुरणाद्भ्राम्यह्लीभ्यां (८), काञ्चीं वीक्ष्याक्रमान्मूकां (९), पृथुलभुजगदाभ्यां (११), त्रपादंशे च्छिन्ने (१५), आक्रम्य कान्त निजपौरुषं तत् (१६), हृदधरगतरत्नं यद्द्वयदाहृत्य तस्या (१८), श्रीकृष्णनेत्रद्वयवीरवर्य्य (२०), तदास्याः श्रीभालं (२१), ताभ्यान्तु सन्धौ विहिते तदा (२६), तदनिच्छन्नर्म्मणासौ (३३), आलीमल्लीमतल्लीस्ता (३६), तावच्छ्रीराधिकाकुञ्जे (३७), स्वालीं प्रति प्रणयरोषविभङ्गुरभ्रू (३९), कृष्णोऽपि निर्गत्य निकुञ्जवृन्दात् (४०), अथ विविधविलास-श्रान्तितः (४३), उद्भ्राम्यादनवतितीर्षवोऽपि सर्वाः (५१), राजीवरक्तोत्पल-पुण्डरीक (५२), व्यात्युक्षीप्रधनं तदा (५५), एणीदृशामुदरदघ्नजले स्थितानां (५७), सहस्रपात् ससस्राक्षः (५८), व्यातुक्ष्यां सलिले यद्वन् (६९), सेवालीभिः कृष्णकृष्णप्रिया स्ताः (९३), आलीचयेन परिमार्जितदेहकेश (९९), अनल्पैराकल्पैः कुसुम-

---

५६, ११४। चतुर्द्दश सर्ग में--२७, ३१, ३३–३७, ५३, ५४, ५६, ५८–६३, ७४, ७५, ७७, ८०, ८६–८९, ९१, १०८-११०। पञ्चदश सर्ग में--१, २, ८, ९, ११, १५, १६, १८, २०, २१, २६, ३३, ३६, ३७, ३९, ४०, ४३, ५१, ५२, ५५, ५७, ५८,

रचितै १००), पौष्पै श्चाभरणैस्तत्र (१०८), ततोऽसौ वृन्दयानीत (१०६), भोक्तु तान्युपविष्टोऽसौ (१११), उपविष्टा पुरो राधा (११२), सुकृत्तवल्कलतया शङ्खवर्णाकृतीनि च (११४), जातिवर्णाकृतिस्वादु (११६), पीलूनि बहुभेदानि (१२१), कदली-वदरीणाञ्च (१२२), पनसाम्रादिकरसान् (१३१), पर्य्यवेशयदेतानि (१३२), वद्गुर्निन्दन् प्रशंसंश्च (१३४), कर्पूरवासितं तोयं (१३५), यातस्ततः स हरि (१३६), श्रीराधिकाथ सगणा मुदितोपविष्टा (१३८), अथाचम्यायुः सर्वाः (१४०), ताम्बूलचर्वितं ताभ्यः (१४१), ततः सा तुलसीरूपमञ्जरी (१४२), तासु भुक्त्वा गतास्वत्र (१४३), ततः श्रीराधिका ताभ्यो (१४४), कृष्णः कान्तां तां समाकृष्य (१४५), श्रीरूपमञ्जरी मुख्यसखीभिः (१४६), [षोड़श-सर्गे]—अथ क्षणात्तौ प्रतिलब्धबोधा (१), [अष्टादश-सर्गे]—आसने पाशकक्रीड़ा (२६), हितदायोपदेष्टा (२७), नान्दीवृन्दे च मध्यस्थे (२८), प्रवृत्ते प्रथमे द्यूते (२९), द्वितीये त्वजयन् कान्ता (३०), द्वयोर्हारग्लहे वृत्ते (३१), तच्छ्रुत्वा शारिका भीता (३२), हासकोलाहले वृत्ते (३३), तावदीशाभीष्टदाये (३४), मिथो हारहृतावासीत् (३५), तच्छ्रुत्वा चलितौ भीतौ (५५), कृष्णोऽत्र स्थापितः कौन्द्या (५६), विलम्बः कथमेतावान् (५७), वृद्धया मानितः कृष्णः (६४), पूजारम्भेऽवदत् कृष्णो (६५), सेयं गुणवती यस्याः (६६), नाव्रतः कारयेत् कर्म (६७), जगन्मङ्गलकृद् गोत्रं (६८, श्रीभास्वतेऽतनुतमः संहर्त्रे (६९), मन्त्रेणानेन पाद्यादीन् (७०), नैवेद्यदक्षिणात्वेन (७३), नाद्योऽन्यदेवताशेषं (७४), स्वीकृत स्ते मया दोषो (९०), इत्युक्त्वा जटिला हृष्टा (९२), सखिभ्यां सहितः सोऽथ (९६), अस्मान् हित्वा तव गतवतः (९७)।

इति दशश्लोकीभाष्ये षष्ठश्लोकभाष्यम् ॥६॥



९९, ९३, ९९, १००, १०८, १०९, १११, ११२, ११४, ११६, १२१, १२२, १३१, १३२, १३४–१३६, १३८, १४०–१४६।

अथापराह्ल-लीलामाह—

श्रीराधां प्राप्तगेहां निजरमणकृते क्लृप्तनानोपहारां
सुस्नातां रम्यवेशां प्रियमुखकमलालोकपूर्णप्रमोदाम् ।
कृष्णञ्चैवापराह्ले व्रजमनुचलितं धेनुवृन्दैर्वयस्यैः
श्रीराधालोकतृप्तं पितृमुखमिलितं मातृमृष्टं स्मरामि ।।७।।

अथापराह्ले श्रीराधां कृष्णञ्च स्मरामीत्यन्वयः। किम्भूतां श्रीराधां प्राप्तं गतं गेहं यया सा तथा तां, तथा निजरमणस्य श्रीकृष्णस्य कृते सायं भोजनार्थं रात्रिभोजनार्थञ्च क्लृप्ता विरचिता

षोड़श सर्ग में—१। अष्टादश सर्ग में—२६—३५, ५५—५७, ६४—७०, ७३, ७४, ९०, ९२, ९६, ९७।

इति षष्ठश्लोकभाष्य ।।६।।



अपराह्ललीला वर्णन कर रहे हैं—

अपराह्लकाल में श्रीराधा निज गृह में आकर स्नान एवं वेशभूषादि द्वारा शोभित होकर निज रमण श्रीकृष्ण के लिए श्रीयशोदा के आज्ञानुसार कर्पूर-केलि, अमृतकेलि इत्यादि विविध उपहार प्रस्तुत किये, एवं वन से गोष्ठ में आगमन के समय प्रियतम के मुखकमल को देखकर आनन्दपूर्ण हुई हैं। श्रीकृष्ण भी धेनुवृन्द एवं वयस्यगण के साथ व्रज में आनेके समय श्रीराधा को देखकर परितृप्त हो गये, नन्द प्रमुख पितृगण के साथ मिलित होकर एवं यशोदादि मातृगण के द्वारा स्नानादि से मार्ज्जित हुए,—इस प्रकार श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण का मैं स्मरण करता हूँ ।।

अन्वय व्याख्या—अपराह्लकाल में मैं श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ। श्रीराधा किस प्रकार हैं ? निज गृह में आगता, निज प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण के सायं भोजन, नैश भोजन के लिए—

नाना अनेकविधा उपहाराः पक्वान्नादयो यया ताम् । ततश्च सुस्नातां सुष्ठु कृतस्नानां ततो रम्या वेशरचना यस्या स्ताम् । ततः प्रियस्य श्रीकृष्णस्य मुखकमलालोकेन पूर्णः प्रमोदो यस्या स्तान् । कृष्णं कथम्भूतं धेनुवृन्दैर्वयस्यैश्च सह व्रजमनुव्रजं लक्ष्यीकृत्य चलितं, श्रीराधाया आलोकेन दर्शनेन तृप्तं, पितृमुखैर्जनकादिभिः श्रीव्रजराजमारभ्य सर्वैर्मिलितमित्यर्थः । मुखशब्दोऽत्र प्रारम्भे, तदुक्तं विश्वप्रकाशे 'मुखं निःसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपीति । मात्रा व्रजेश्वर्य्या मृष्टं गोरज आद्यपसरणेन ललितमित्यर्थः ॥'५२॥

मूलग्रन्थक्रमेणोदाहरणानि—[ऊनविंश-सर्गे]—हरिरथ धवलाश्रेणीः (२२), गङ्गे तुङ्गि हिहि पिषङ्गि (२४), स्वगणेन गणाध्यक्षा (२७), आलिङ्गन्त्य इव स्वाङ्गैः (२८), तत्स्नेहवशगः सोऽपि (२९), तृप्ताः स्थ यवसैर्यूयं (३०), ततो वयस्या यत्नात्ताः (३१), नानाभेदाकृतिध्वान (३२), गायं गायं वेणुना याति मित्रैः (३६), अथागता सा सदनं हरिप्रिया (४९), साऽथ स्नातानुलिप्ता (५९), चूड़ारत्नललाटिके (६०), सुस्नातालङ्कृताभिः सा (६१), जातेऽपराह्णे तनया (६४), अथाहूयातुलाख्यां सा (६५), स्वे स्वे कर्मणि दास दीन् (७२), ततः स्वयातृप्रमुखा (७३), सूर्य्यं समीक्ष्य चरमाचल (७४), मण्डयन्तः सखीन् पुष्पैः (७६), श्रीधेनुरेणुपरि (७९), वन्याटनश्रमज (८०), व्रजेशो भ्रातृभि र्गोपैः (८४), मुरलीनदनादुत्थितमदना (८६),

---

नानाविध पक्वान्नादि उपहार निर्माण कारिणी, तत्पश्चात् सुन्दर रूप से स्नाता, पश्चात् वेशविन्यास-धारिणी, अनन्तर प्रियतम के मुखकमल को देखकर पूर्णानन्द विशिष्टा है । श्रीकृष्ण किस प्रकार हैं? धेनु एवं वयस्य वृन्द के साथ व्रज की ओर यात्राकारी, श्रीराधा के दर्शन से तृप्त, श्रीव्रजराज आदि पितृगण के साथ मिलित एवं मा यशोदा द्वारा गोरज-आदि के अपसारण से लालित हैं ॥५२॥

मूल ग्रन्थ के अनुसार उदाहरण—ऊनविंश सर्ग में—२२, २४, २७—३२, ३६, ४९, ५९—६१, ६४, ६५, ७२—७४, ७६, ७९,

श्रीराधिकापाङ्गविलोकनेषुणा (९२), "त्यक्त्वा रसवतीं दासीः संरक्ष्य तदवेक्षणे। रोहिण्यतुलयाभ्येत्य ननन्दालिङ्ग्य तौ सुतौ॥" आसाद्याग्रे भविक-बलितं (९५), गोधूलिधूम्रानलकान् (९६), संकलय्याथ गोजाल (९८), आम्रेडितो वत्सलया बलाम्बया (१०५), गृहे व्रजेशयानीते (१०७), शमितविरहतापा (१०८)।

इति दशश्लोकीभाष्ये सप्तमश्लोकभाष्यम् ॥७॥



अथ सायन्तनीलीलामाह—

सायं राधा स्वसख्या निजरमणकृते प्रेषितानेकभोज्यां
सख्यानीतेश-शेषाशनमुदितहृदं ताञ्च तञ्च व्रजेन्दुम्।
सुस्नातं रम्यवेशं गृहमनुजननीलालितं प्राप्तगोष्ठं
निर्व्यूढोस्रालिदोहं स्वगृहमनु पुनर्भुक्तवन्तं स्मरामि ॥८॥

सायं तां राधां च तं व्रजेन्दुञ्च स्मरामीत्यन्वयः। कथम्भूतां तां—स्वसख्या तुलस्या निजरमणस्य श्रीकृष्णस्य कृते प्रेषितानि

८०, ८४, ८६, ९२, ९५, ९६, ८९, १०५, १०७, १०८।

इति सप्तम-श्लोकभाष्य ॥७॥

— — ०**०— —

सायंकालीन लीला कहते हैं—

जो सायंकाल में निज सखी द्वारा निज रमण श्रीकृष्ण के लिए विविध भोज्य वस्तु प्रेरण करती है, एवं सखी के द्वारा पुनरानीत श्रीकृष्ण के भुक्तावशेष भोजन कर प्रमुदितचित्त हैं।—उन श्रीराधा का, एवं सुस्नात, रम्यवेशधारी गृहमध्य में मा यशोदा द्वारा लालित, गोष्ठगत, गोदोहन कार्य समापन के बाद पुनर्बार घर में लौट कर भोजन करते हैं,—उन श्रीकृष्ण का स्मरण करता हूँ।

अन्वय व्याख्या—सायंकाल में उन राधा एवं कृष्ण का स्मरण करता हूँ। वह श्रीराधा किस प्रकार हैं? निज सखी तुलसी के

अनेकानि भोज्यद्रव्याणि यया ताम्। सख्या आनीतस्य ईशशेषस्य श्रीकृष्णभुक्तावशेषस्याशनेन भोजनेन मुदितं हृत् मनो यस्या स्ताम्। तं कीदृशं—सु शोभनं यथा स्यात्तथा स्नातं, रम्यो वेशो यस्य तं, दासै र्विरचितवेशमित्यर्थः। गृहमनु गृहे जनन्या लालितं स्नान-भोजनादिना कृतलालनं, ततश्च प्राप्तं गोष्ठं गोस्थानकं येन तम्। निर्व्यूढः सिद्धः उस्रालीनां गोसमूहानां दोहो दहनं यस्य कृतदोहन-मित्यर्थः। 'माहेयो सौरभेयी गौरुस्रा माता च शृङ्गिणी। वीथ्यालिरावलिः पंक्तिरित्यमरः।' स्वगृहमनु स्वगृहे पुनरनन्तरं यद्वा पुनरिति पूर्वस्मात् पक्वान्नादिभोजनाद्द भिन्नं अन्नव्यञ्जनादिकं भुक्तवन्तं विहितान्नादिभोजनमित्यर्थः ॥५३॥

'पुनरप्रथमे भेदे' इत्यमरः। उत्तरार्द्धक्रमेणोदाहरणानि [विंश-सर्गे]—"अथ व्रजेश्वरो पुत्रावानीयाम्लत्रवेदिकाम्। दासान्नियुज्य तद्दास्ये धनिष्ठाह सत्वरम्॥ (२), राधां संप्रार्थ्य पुत्रित्वं पक्वान्नान्यानय द्रुतम्। सा गत्वा यावते तानि राधां प्रस्थाप-नोद्यताम् ॥" (३), मालती तत्रदागत्य (५), श्रीराधिकापि भक्ष्याणि (६), ताम्बूलत्रोटिकाश्चास्यां (८), सापि ताभ्यां तदानीय (९), अङ्गप्रक्षालनाभ्यङ्गो (११), केशसंस्कारतिलका (१२), क्रमान्माता ददौ (१३), पीयूषग्रन्थिकर्पूरकेलि (१४), हसन्तो हासयन्त स्ते (१५), त एते सेविता दासैः (१६), विज्ञाप्य तातं दोहाय (३०), श्रीहस्त-मार्जनैः कण्डूयनैः (३१), प्रवेश्य गोपैर्निजमातृलालिताम् (३४),

---

द्वारा निज रमण श्रीकृष्ण के लिए विविध भोज्य द्रव्य प्रेरणकारिणी, पुनर्बार तुलसी द्वारा आनीत प्राणेश्वर के भुक्तावशिष्ट भोजन से आनन्दितमनाः॥ श्रीकृष्ण किस प्रकार ? सुन्दर रूप से स्नात, दासगण द्वारा सुरम्य वेशधारी, घर में जननी द्वारा स्नान भोजनादि द्वारा संलालित, उसके बाद गोष्ठ में गमन रत, गो-समूह के दोहन कार्य में रत, तत्पश्चात् पुनर्बार गृहागत ॥५३॥

उत्तरार्द्ध क्रम से उदाहरण—विंश सर्ग में—२, ३, ५, ६, ८,

प्रस्थाप्य दुग्धानि गृहं स भारिकैः (३५), शालग्रामशिलायां ते (३६), इष्टगोष्ठीं क्षणं कृत्वा (३९), सुभद्रादीन् भ्रातृपुत्रान् (४०), आहूता वृन्दा राज्ञ्या (४३), दक्षिणेऽस्याग्रजौ वामे (४४), सत्सौरभैः कनकवर्ण-घृताभिषिक्तैः (४६), जेमत्सु तेषु परिवेशयति (४७), दुग्धं घनं शिखरिणीं (४९), भुक्त्वा पीत्वाचम्य (५४), ततो धनिष्ठा हरिभुक्तशेषं (५९), अन्नमादाय यातायां (६१), अथागतासौ तुलसी (६२), ततः समेत्योपविवेश भोक्तुं (६७), असग्रे ललिता सव्ये विशाखा (६८), ताभ्यः परिविवेशान्नं (६९), आ वम्यास्वादयन्त्यस्ताः (७२)।

इति दशश्लोकीभाष्येऽष्टमश्लोकभाष्यम् ॥८॥



अथ प्रदोषलीलामाह—

राधां सालीगणान्तामसितसितनिशायोग्यवेशां प्रदोषे
दूत्या वृन्दोपदेशादभिसृत-यमुनातीरकल्पागकुञ्जां ।
कृष्णं गोपैः सभायां विहितगुणिकलालोकनं स्निग्धमात्रा
यत्नादानीय संशायितमथ निभृतं प्राप्तकुञ्जं स्मरामि ॥९॥

९, ११—१६, ३०, ३१, ३४—३६, ३९, ४०, ४३, ४४, ४६, ४७, ४९, ५४, ५९, ६१, ६२, ६७—६९, ७२।

इति अष्टमश्लोकभाष्य ॥८॥

— —०:❀✻❀:०— —

प्रदोष-लीला कहते हैं—

श्रीराधा कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष में रात के उपयोगी कृष्णवर्ण एवं श्वेतवर्ण वेशभूषादि धारण कर सखीगण के साथ प्रदोषकाल में वृन्दाके उपदेशानुसार दूतीके साहाय्य से यमुना-तीरस्थित कल्पवृक्ष मण्डित कुञ्ज मध्य में अभिसार करती है। इधर श्रीकृष्ण भी

प्रदोषे राधां कृष्णञ्च स्मरामीत्यन्वयः। पूर्ववच्चार्थो बोद्धव्यः। कथम्भूतां श्रीराधां—असितसितनिशायोग्यवेशां तामसीज्योत्स्नच-भिसरणोचितवेशामित्यर्थः। तथा आलीगणैः सह अभिसृतो यमना-तीरस्थ-कल्पवृक्षस्य कुञ्जो यया तां। 'शलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः। कस्मात् मालत्या द्वारया वृन्दाया उपदेशः सङ्केतकुञ्जकथनं तस्माद्धेतोः। कृष्णं कथम्भूतं—गोपैः सह सभायां विहितं कृतं गुणिसम्बन्धिनीनां शिल्पानां आलोकनं येन तम्। 'कलाशिल्पे कालभेदेऽपीत्यमरः।' ततश्च स्निग्धया मात्रा यत्नादानीय सम्यक् यथा भवति तथा शायितम्। अथानन्तरं प्राप्त कुञ्जं लब्धसङ्केत-निकुञ्जमिति ॥५४॥

उत्तरार्द्धमारभ्योदाहरणानि [एकविंश-सर्गे]—अथाययौ हरेः पिता (२), शेते सुतः श्रमभराद् (५), विप्रान् गुरून् साञ्जलि (७), वेदध्वानै र्जयजयरवैः (८), व्रजेन्द्रेणेरितः क्षत्ता (६), तेषूपविष्टेषु

गोपगण के साथ सभा में गुणिगण के कौशल को अवलोकन कर स्नेहमयी मा यशोदा द्वारा सभा से आनीत एवं शय्या में संशायित हुए। तत्पश्चात् गोपन में संकेतकुञ्ज में चले गये,—एतादृश श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ।

अन्वय व्याख्या—प्रदोष में श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ। श्रीराधा किस प्रकार? तामसी एवं ज्योत्स्नायुक्त रजनी में अभिसार के उपयोगी वेशधारिणी, सखीगण के साथ यमुनातीरस्थ कल्पवृक्ष कुञ्ज में अभिसारिणी। किस हेतु अभिसार करती है? वृन्दा ने मालती के द्वारा जिस सङ्केत कुञ्ज का इङ्गित भेजा है,—उसके लिए अभिसारिणी। श्रीकृष्ण किस प्रकार? गोपगण के साथ सभा में उपविष्ट होकर गुणियों के शिल्पचातुर्य दर्शनकारी, स्निग्धा माता यशोदा के द्वारा आदर से घर में बुला कर सुशय्या में शायित, बाद में सङ्केत कुञ्ज में प्रविष्ट ॥५४॥

उत्तरार्द्ध-क्रम से उदाहरण समूह एकविंश सर्ग में—२, ५,

(१०), श्रावयामासुरितरे पुण्याः (१३), चतुर्विधानां विद्यानां (१४), तेभ्यो व्रजेशादिसभासदो ददुः (१५), तावद् व्रजेशा-प्रहितः (१७), ततो व्रजेन्द्रेण कृताग्रहोत्करः (१८), तत्रागतौ स मधुमङ्गल-मित्र-वृन्दौ (१९), ततो गते मित्रगणे (२०), शाययित्वाथ तां स्तत्तद्दासासात् (२१), श्रीराधिकाप्यशकलेन्दु (२३), हंसाशुका सशशिचन्दन-लिप्तकाया (२४), जानुदग्धजलं तीर्त्वा (२७), श्रीगोविन्द-स्थलाख्यं (२८), कुसुमरचितशय्यो (६३), कुसुमितबहुवल्लीमण्डलैः (६४), वृन्दा सवृन्दात्र विभूषयन्ती (६६), अभ्युद्गतास्यै विनिवेद्य (६७), अथात्र घोषेशसुतः सविन्ध्यां (१०२), इतस्तावज्जचोत्स्नोज्ज्वलित (१०७). तावत् कृष्णोऽपि तत्रा (१०९), पुलकमुकुलजाला (११०), कृष्णोऽपि तासां (१११), वयस्याः वः सख्यः क्व नु (११२), एवं नर्मालिभि स्तन्वन् (११५), तां लालसा दयितसङ्गतये (११९), तां स्प्रष्टुमुत्सुकतयेरित (१२०), तत्स्पर्शतः पुलककम्प (१२१), गूढ़ौ पुनः स्वर्णघटौ (१२४), इति सुमधुरलीलानन्दसिन्धौ (१२५), हरिरपि रसभङ्गैः (१२६)।

इति दशश्लोकीभाष्ये नवमश्लोकभाष्यम् ॥९॥



अथ नक्तलीलामाह—

तावुत्कौ लब्धसङ्गौ बहुपरिचरणै वृन्दया राध्यमानौ
प्रेष्ठालीभि र्लसन्तौ विपिन-विहरणै र्गानरासादिलास्यैः ।

७—१०, १३—१५, १७—२१, २३, २४, २७, २८, ६३, ६४, ६६, ६७, १०२, १०७, १०९—११२, ११५, ११९—१२१, १२४—१२६ ।

इति नवमश्लोकभाष्य ॥९॥

—०:***:०—

नैशलीला कहते हैं—

जो परस्पर के मिलन की आकांक्षा से प्रथमतः उत्कण्ठित एवं उसके बाद मिलित होकर प्रियतम सखीगण के साथ वृन्दादेवी के

नानालीलानितान्तौ प्रणयिसहचरीवृन्द-संसेव्यमानौ
राधाकृष्णौ निशायां सुकुसुमशयने प्राप्तनिद्रौ स्मरामि ।।१०

निशायां तौ राधाकृष्णौ स्मरामि इत्यन्वयः । किम्भूतौ तौ लब्धसङ्गौ प्राप्तसङ्गावपि उत्कण्ठितौ रहःक्रीड़ायामिति शेषः । अपि-शब्दश्चाध्याहार्य्यः । तथा बहु-परिचरणैः बह्वीभिः परिचर्य्याभिः वृन्दया राध्यमानौ सेव्यमानौ तथा विपिनविहरणैर्वनविहारैः गानरासादिलास्यैश्च कृत्वा प्रेष्ठालिभिः प्रियतमसखीभिः सह लसन्तौ विलसन्तौ सन्तौ । तत्र रासलक्षणमुक्तं भरतेन—'अनेकनर्त्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् । आचतुःषष्टि युगलाद्रासकं मसृणोद्धत'मिति । तथा नानालीलया विविधविलासश्रेण्या तान्तौ श्रान्तौ तथा प्रणयि-सहचरीवृन्देन प्रियनर्मसखीसमूहेन सम्यक् सेव्यमानौ तथा सुकुसुम-शयने सुगन्धिसुकोमलनिर्वृन्तपुष्प-रचितशय्यायामित्यर्थः प्राप्ता निद्रा याभ्यां तौ इति ।।५५।।

द्वारा बहुविध परिचर्य्या से आराध्यमान एवं उनके साथ वनविहार, गान, रासादि लास्यनृत्य से परिश्रान्त होने पर प्रणयी सहचरीवृन्द द्वारा सम्यक् प्रकार से व्यजन, शीतल-जलार्पण, ताम्बूल, पादसम्वा-हनादि क्रम से सेव्यमान होकर निवृन्त-कुसुमशयन में निद्रालु होते हैं,—मैं एतादृश श्रीराधाकृष्ण का स्मरण करता हूँ ।

सान्वय व्याख्या—रात्रिकाल में उन श्रीराधाकृष्ण के स्मरण करता हूँ । वे दोनों किस प्रकार हैं? सम्मिलित होने पर भी रहःक्रीड़ा के लिए उत्कण्ठित, अनेकविध परिचर्य्या से वृन्दादेवी द्वारा सेवित, एवं वनविहार, गान, रासनृत्यादि विविध विनोद में प्रियतम सखीगण सह विलास परायण हैं । [भरतमुनिकृत रास लक्षण —अनेक नर्तकी प्रयोज्य, विचित्र-ताललयादि युक्त ६४ युगल के विविध गतिभङ्गी से नृत्यरसास्वादन उसको 'रासक' कहते है ।]

विविध विलास करते करते परिश्रान्त, प्रियनर्म-सखी समूह द्वारा सम्यक् सेव्यमान एवं सुगन्धि, सुकोमल, निर्वृन्त पुष्परचित शय्या में निद्रागत हैं ।।५५।।

क्रमेणोदाहरणानि—[द्वाविंश-सर्गे]—वृन्दा सवृन्दाथ महालिवृन्दौ (२), सा तत्र तौ पुष्पचितान्तरायां (३), आवेशनादालिगणोपनीतैः (४), तत् काननं तां रजनीं (५), वंशीगानेन तास्वेष (९), कानने सुधांशुकान्ति (१०), उत्थितः स्वरमणीगणसङ्गी (११), मृदु-मलयानिलैर्जित (१२), सुकण्ठीभिः कण्ठीरव-मधुर (२८), यद्यज्जगौ चन्द्रलतादिकं (३१), जगदाह्लादकशीलः (३२), इत्थं गायन् मधुरविपिन (४६), पुलिनानि समीक्ष्यासौ (४९), जानुद्वय-सतोयायां (५३), तीर्त्वा तीर्त्वा सुखेनैतान् (५४), ततः पुलिनमागत्य (५६), वितस्तिमात्रोच्चनिखातशङ्कु ग (५७), आदिश्य हल्लीशक-केलिरङ्गे (५९), नृत्यन्नितम्बिनीनां (६०), लघुभ्रमच्चक्रगतेः समा (६२), विधाय राधां ललिताविशाखयोः (६१), स्वशक्ति दर्शयन् चक्राद् (६६), गोप्यश्च युगपत् सर्वाः (६७), विलस्येत्थं हरिस्ताभिः (६८)। [त्रयोविंश-सर्गे]—अथ प्रबन्धगानं स (१), कृष्णे नृत्यत्येकले (३), रङ्गे क्रमाच्छ्रेणीतया स्थितानां (४), ततघनशुषिराढ्य (५), कृष्णः श्रीमान् मुहुरिह (६), थो दिक् दां दां (७), कूजत्काञ्जीकटक (८), गीतं वाद्यञ्च नृत्यं (३६), काश्चित् पश्यति काश्च चुम्बति (३७), एवं गायन् गायं (३८), काचित् समाघ्राय भुजं निजांसे (३९), सा नृत्यजा श्रान्ति (४०), फुल्लपुण्डरीकषण्ड (४२), मुहुः कराब्जेन दयाब्धिमग्नः (४५), इत्थं समाप्य विविधा (४८), हिमबालुकबालु-केऽमले (४९), कुसुमफलरसै स्तैः (५०), प्रत्यङ्गनायुगलमध्यमसौ शक्त्या (५१), कन्दर्पमाध्वीक (५२), कन्दर्पमदवैक्लव्यात् (५३), स्वाधीनभर्त्तृकावस्थां (५४), तयोरितः स कुञ्जेषु (५५), निर्गतः कुञ्जनिकरात् (५६), इत्थ विधाय पुनर्नर्मविहारनृत्यं (६३), तोये तदोरुद्वयसे (६४), द्वित्राभिः पञ्चषाभिश्च (७०), निर्लेपतां कुचयुगानि

क्रमिक उदाहरण--द्वाविंश सर्ग में—२—५, ९—१२, २८, ३१, ३२, ४६, ४९, ५३, ५४, ५६, ५७, ५९, ६०-६२, ६६-६८। त्रयोदश सर्ग में--१, ३—८, ३६—४०, ४२, ५४, ४८—५६,

निरञ्जनत्वं (७१), इत्थं विधायाम्बुविहारनृत्यं (७४), वृन्दा ताभिः समं कृष्णमानीय स्वर्णमण्डपं (७५), ततः सवृन्दोपनिनाय (७६), तत्तन्नामाङ्कितानाली (७७), अनङ्गगुटिकां सीधुविलासं (८३), फलानि रसरूपाणि (८४), तस्मिन्मुक्तचतुर्द्वारि (८५), मनोजकेलीनिलये (८६), सूक्ष्माम्बरावृतावृन्त (८७), पर्य्यङ्कपार्श्वस्थितखट्टिकायुगे (८८), श्रीरूपरतिमञ्जर्य्यौ (८९), क्षणं तौ परिचर्य्येत्थं (९०), श्रीरूपमञ्जरीमुख्याः (९१)।

इति दशश्लोकीभाष्ये दशमश्लोकभाष्यम् ।।१०।।



९३, ९४, ७०, ७१, ७४, ७५, ७७, ८३, ८५—९१।

इति दशमश्लोकभाष्य ।।१०।।



अस्य लीलावर्णनस्योपसंहारपूर्वकं ग्रन्थप्रयोजनश्चोक्त यथा—

श्रीरूपदर्शितदिशा लिखिताष्टकाल्या
श्रीराधिकेश-केलितति र्मयेयं ।
सेवास्य योग्यवपुषाऽनिशमत्र चास्या
रागाध्व-साधकजनै र्मनसा विधेया ॥२३।९४॥

सिद्धान्त-लीलयोः सूत्रं दशश्लोक्या इदं मया ।
लिखितं स्वीय-बोधाय भाष्यं वैष्णव-रागदम् ॥१॥
उपासने च सिद्धान्ते वृन्दावननिवासिनां ।
यदत्र क्षुल्लके ग्रन्थे तदेवान्यत्र विस्तरे ॥२॥
दुर्बोधं स्वमतं यत्तु विस्पष्टं तत् कृतं मया ।
परै र्विज्ञापितं यच्च तदप्युद्द्योतितं पुनः ॥३॥

लीलावर्णन का उपसंहार करते हुए **ग्रन्थ-प्रयोजन** एवं ग्रन्थकार **श्रीकृष्णदास कविराज** गोस्वामीपाद की उक्ति को दिखाते हैं, उन्होंने कहा—[२३।९४] श्रीरूपगोस्वामिपाद द्वारा प्रदर्शित पथ से श्रीराधाकृष्ण की निशान्तादि नैशान्ता अष्टकालीन लीलावलि को मैंने लिखा है। रागमार्गीय साधकगण श्रीगुरुदत्त अन्तश्चिन्तित सेवोपयोगि सिद्धदेह में यह लीला दिवानिश भावना करके सम्भव होने पर श्रीवृन्दावन में वास करके अन्यथा मन से वास कर श्रीराधाकृष्ण की सेवा करें।

[१] मैं निज जनगण के बोध हेतु दशश्लोकी का सिद्धान्त, एवं लीला का सूत्र का 'वैष्णवरागद' (वैष्णववृन्द के रागप्रद) भाष्य की रचना की। [२] वृन्दावनवासियों की उपासना एवं सिद्धान्त के विषय में इस क्षुद्र ग्रन्थ में जो कुछ लिपिबद्ध हुआ है,—उसका विस्तार ही अन्यान्य ग्रन्थ में उपलब्ध होगा। [३] श्रीगोस्वामी पाद के जो मत अतिदुर्बोध्य है, उसको मैं विशेष रूप से परिष्कार

श्रीकृष्णचैतन्यगणेषु मुख्यः श्रीपूर्वविख्यात-गदाधराख्यः ।
यस्यैव गौड़ादिषु सुप्रसिद्धा गोस्वाम्यभिख्या किल पण्डिताद्या
शिष्य स्तदीयो भुवनैकवन्द्यः अनन्त आचार्यतया प्रसिद्धः ।
विद्यासु वाचस्पतिनापि तुल्यः प्रेम्ना निजाभीष्टशरीरसंस्थः ।।
तस्याभवच्छ्रीहरिदासनामा शिष्यः सुविख्याततया गुरु र्मे ।
यस्यैव पादाम्बुजधूलिलेश-सेवाप्रभावाल्लिखितं मयेदम् ।।६।।
।।५६।।

इति श्रीगोविन्द-सेवाधिरति-श्रीहरिदास-गोस्वामि-चरणानुजीवि-
श्रीराधाकृष्णदास-विरचितं दशश्लोकीभाष्यं सम्पूर्णम् ।।
शुभमस्तु ।।

किया है, एवं अन्य महाजनगण के वक्तव्य भी इस ग्रन्थ में उट्टङ्कित हुआ है। [४] श्रीकृष्णचैतन्यगण के मध्य में जो मुख्य हैं, जिनका सुविख्यात नाम,—श्रीगदाधर हैं, गौड़, उत्कलादि देश में जो पण्डितगोस्वामी नाम से प्रसिद्ध। [५] उनके ही भुवनैकवन्द्य शिष्य श्रीअनन्त आचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं। आप विद्या में साक्षात् वृहस्पति तुल्य है, एवं प्रेमबल से निजाभीष्ट पण्डित गोस्वामी के द्वितीय शरीर तुल्य हैं। [६] उनके ही सुविख्यात शिष्य श्रीहरिदास गोस्वामी है। आप ही मेरा श्रीगुरुदेव हैं। उनके पदकमल की धूलिलेश की सेवा प्रभाव से ही मैं इस भाष्य की रचना करने में समर्थ हूँ ।।५६।।

इति श्रीगोविन्द-सेवाध्यक्ष श्रीहरिदास-गोस्वामिप्रभु के चरणैक-जीवातु श्रीराधाकृष्णदास-विरचित दशश्लोकीभाष्यानुवाद समाप्त ।।
श्रीमद्गुरवे समर्पणमस्तु ।।

श्रीगान्धर्वा प्रसादेन भाष्यस्य विमलाकथा
विवृता हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना ।।



श्रीहरिदासशास्त्रि सम्पादिता ग्रन्थावली

१। वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्" महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव प्रणीत, ब्रह्मसूत्रों के अकृत्रिम अर्थस्वरूप श्रीमद्भागवत के पद्यों के द्वारा सूत्रार्थों का समन्वय इसमें मनोरम रूप में विद्यमान है।

२। श्रीनृसिंह चतुर्दशी भक्ताह्लादकारी श्रीनृसिंहदेव की महिमा, व्रतविधानात्मक अपूर्व ग्रन्थ।

३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा विरचित रागानुगीय वैष्णव पद्धति।

४। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका (बङ्गला पयार) गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा के द्वारा सुललित छन्दोबद्ध ग्रन्थ।

५। श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा विरचित सपरिकर श्रीनन्दनन्दन श्रीभानुनन्दिनी के स्वरूप निर्णयात्मक ग्रन्थ

६। श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका श्रीजीवगोस्वामिपादकृत श्रीराधासम्बलित श्रीकृष्ण पूजन प्रतिपादन का सर्वादि ग्रन्थ।

७। श्रीगोविन्दलीलामृतम् (मूल, टीका, अनुवाद सह-१-४सर्ग) "श्रीकृष्णदास कविराज प्रणीतम्" स्वारसिकी उपासना के अनुसार अष्टकालीय लीला स्मरणात्मक प्रमुख ग्रन्थ।

८। श्रीगोविन्दलीलामृतम् ५ सर्ग से ११ सर्ग पर्यन्त (टीका सानुवाद)

९। श्रीगोविन्दलीलामृतम् १२ सर्ग से २३ सर्ग पर्यन्त (टीका सानुवाद)

१०। ऐश्वर्यकादम्बिनी (मूल अनुवाद) श्रीबलदेवविद्याभूषणकृत भागवतीय श्रीकृष्णलीला का क्रमबद्ध ऐश्वर्य मण्डित वर्णन, श्रीवृषभानु महाराज, एवं भानुनन्दिनीका मनोरम वर्णन इसमें है।

११। संकल्प कल्पद्रुम (सटीक, सानुवाद) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिपाद कृत स्वारसिकी उपासना का प्रमुख ग्रन्थ।

१२। चतुःश्लोकी भाष्यम् (सानुवाद) श्रीनिवासाचार्यप्रभुकृत चतःश्लोकी भागवत की स्वारसिकी व्याख्या।

१३। श्रीकृष्णभजनामृत (सानुवाद) श्रीनरहरिसरकार ठक्कुर कृत अपूर्व धर्मीय संविधानात्मक ग्रन्थ।

१४। श्रीप्रेमसम्पुट (मूल, टीका, अनुवादसह) श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्ती कृत भागवतीय रास रहस्य वर्णनात्मक हृदयग्राही ग्रन्थ।

१५। भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद) श्रीलोकानन्दाचार्य प्रणीत भक्तिरहस्य परिवेषकअनुपम ग्रन्थ।

१६। भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद बङ्गला) श्रीलोकानन्दाचार्य प्रणीत, भक्तिरहस्य प्रकाशक मनोहर ग्रन्थ।

१७। व्रजरीति चिन्तामणि (मूल, टीका, अनुवाद) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ति ठक्कुर कृत व्रजसंस्कृति वर्णनात्मक अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ।

१८। श्रीगोविन्दवृन्दावनम् (सानुवाद) बृहद् गौतमीय तन्त्रान्तर्गत श्रीराधारहस्य परिवेषक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ।

१९। श्रीराधारस सुधानिधि (मूल बङ्गला) श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद रचित माधुर्य्यभक्तिमयी श्रीराधा महिमा प्रतिपादक अनुपमेय ग्रन्थ।

२०। श्रीराधारससुधानिधि (बंगला मूल, अनुवाद सह)

२१। श्रीराधारस सुधानिधि (मूल हिन्दी)

२२। श्रीराधारससुधानिधि (हिन्दीमूल, अन्वय अनुवाद सह)

२३। श्रीकृष्णभक्ति रत्नप्रकाश (सानुवाद) श्रीराघवपण्डित रचित श्रीकृष्णभक्ति प्रकाशक अनुपम ग्रन्थ।

२४। हरिभक्तिसार संग्रह (सानुवाद) श्रीपुरुषोत्तमशर्म प्रणीत श्रीभागवतीय क्रमबद्ध भक्ति सिद्धान्त संग्रहात्मक ग्रन्थ।

२५। श्रुतिस्तुति व्याख्या (अन्वय, अनुवाद) श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती कृत वेदस्तुति की व्रजलीलात्मक व्याख्या।

२६। श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र "अष्टोत्तरशतसंख्यक"

२७। धर्मसंग्रह (सानुवाद) श्रीवेदव्यास कृत धर्मसंग्रह श्रीमद्भागवतीय ७म स्कन्ध के अन्तिम ११, १२, १३, १४, १५ अध्यायों का वर्णन।

२८। श्रीचैतन्य सूक्ति सुधाकर श्रीचैतन्यचरितामृत, तथा श्रीचैतन्य-भागवतीय सूक्तियों का संग्रह।

२९। सनत् कुमार संहिता (सानुवाद) व्रजीय रागानुगा उपासना प्रतिपादक सुप्राचीन ग्रन्थ।

३०। श्रीनामामृत समुद्र श्रीनरहरि चक्रवर्त्ति प्रणीत श्रीमन् महाप्रभु के परिकरों का नामसंग्रह।

३१। रासप्रबन्ध (सानुवाद) श्रीपादप्रबोधानन्द सरस्वती कृत।

३२। दिनचन्द्रिका (सानुवाद) सार्वदेशिक दिनकृत्यपद्धति।

३३। भक्तिसर्वस्व (वङ्गाक्षर में) प्रेमभक्तिचन्द्रिका, प्रार्थना प्रभृति सम्बलित

३४। स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीकृत